प्रथम अध्याय

हिंदी उपन्यास और मुस्लिम अस्मिता

हिंदी साहित्य के इतिहास में गद्य विधाओं का उदय आधुनिक काल में हुआ। उपन्यास का उदय भी इसी युग की देन है। इसे परिभाषित करते हुए विद्वानों ने माना है कि इसमें जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति होती है। रचनाकार को रचनात्मकता की पराकाष्ठा पर पहुँचने की आवश्यकता होती है। कहीं न कहीं उपन्यास रचनाकार के जीवन के व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभव की अभिव्यक्ति होती है। इस संदर्भ में रामदरश मिश्र ने लिखा है कि - "उपन्यास का स्वरूप इतना शक्तिशाली इसलिए है कि उसमें साहित्य की सारी विधाओं की छवियों को सन्निहित कर लेने की शक्ति है। अतः उपन्यास निश्चय ही आधुनिक काल की एक बहुत ही शक्तिशाली और जनप्रिय विधा है।"[1] अतः यह कहा जा सकता है कि उपन्यास विधा अपने भीतर की विधाओं की प्रवृत्तियों को समेटे हुए है। हिंदी उपन्यास विधा के उद्भव को पश्चिम की देन माना जाता है। मुख्य रूप से भारतीय परिप्रेक्ष्य में उपन्यास अंग्रेजी और बांग्ला साहित्य के प्रभाव में विकसित हुआ। इसका जन्म भारत में उस समय हुआ जब भारत ब्रिटिश शासन के अधीन था। निश्चित रूप से इस दौर में हिंदी साहित्य में विकसित होने वाली विधाओं पर इस अधीनता से मुक्ति की कामना का प्रभाव परिलक्षित होता है। वैश्विक परिदृश्य में देखा जाए तो उपन्यास के जन्म को मध्यवर्ग के उदय के साथ जोड़ कर देखा जाता है। इस संदर्भ में मधुरेश लिखते हैं कि - "ब्रिटिश राज की स्थापना के बाद मध्यवर्ग का विकास तेजी से होने लगा था। कहीं भी उपन्यास इस मध्यवर्गीय समाज की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से जुड़ा साहित्यिक रूप रहा है। इसी वर्ग के पढ़े-लिखे लोग इस नवविकसित गद्य रूप के पाठक रहे हैं और इन्हीं में से कुछ अपने या अपने आस-पास के जीवन को अंकित करने की लालसा से उत्प्रेरित होकर, उसमें रचनात्मक हस्तक्षेप की दिशा में अग्रसर हुए हैं।"[2] उपन्यास विधा के उदय में निश्चित रूप से मध्यवर्ग एक बड़ा कारण रहा है जो उपन्यास का एक बड़ा पाठक वर्ग तैयार करता दिखाई देता है।

इस दौर की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि आधुनिकता के विविध मूल्य इसका हिस्सा बन रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रवादी चेतना, समाज सुधार की भावना, साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली हिंदी का विकास आदि इस युग के साहित्य की प्रमुख विशेषता रही है। यही कारण रहा है कि इस दौर के कुछ आलोचक उपन्यास के उदय के कारणों में मध्यवर्ग की भूमिका को नकारते हैं। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि - "हिंदी उपन्यास के उद्भव और विकास में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और मध्यवर्ग की भूमिका बहुत नगण्य है।"[3] इस तरह उपन्यास विधा के उदय तथा विकास के कारणों के संदर्भ में विद्वानों के विभिन्न मत है। प्रारंभिक उपन्यासों की कथावस्तु पर समाज सुधार प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। लेकिन उपन्यास के उदय के कारणों में श्रेय केवल मध्यवर्ग को नहीं दिया जा सकता है। इस विधा के विकास में अन्य सामाजिक और साहित्यिक कारणों को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। हिंदी उपन्यासों से पहले बांग्ला और अंग्रेजी भाषाओं के साहित्य में उपन्यास विधा का विकास हो चुका था जिसका प्रभाव हिंदी उपन्यास पर भी पड़ता दिखाई देता है।

1.1 प्रेमचंद पूर्व उपन्यास

हिंदी उपन्यास का आरंभ सन् 1870 से माना जाता है। आधुनिक गद्य विधाओं में उपन्यास विधा का महत्वपूर्ण स्थान है। अंग्रेजी भाषा के प्रभाव में पहले आने के कारण बांग्ला में इस विधा का आरंभ पहले देखा जाता है। शरतचंद्र, बंकिमचंद और रविन्द्रनाथ टैगोर जैसे रचनाकारों ने बांग्ला साहित्य को हिंदी से पहले अपने उपन्यासों से विकसित कर दिया था। हिंदी साहित्य के भारतेंदु युग में इसका आरंभ हुआ। भारतेंदु ने सर्वप्रथम इसे उपन्यास की संज्ञा दी। इस संदर्भ में गोपाल राय ने लिखा है कि - "भारतेंदु हरिशचंद्र ने पहली बार (1875 ई. में) उपन्यास शब्द का प्रयोग किया या एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती लिखने का प्रयोग किया, उस समय उन्हें कदाचित इस बात का ज्ञान नहीं था कि देवरीनी जेठानी की कहानी के रूप में

उपन्यास का जन्म हो चुका है।"[4] इस प्रकार प्रारंभिक दौर के उपन्यासकारों में भारतेंदु का नाम भी जुड़ जाता है।

हिंदी में मौलिक तथा प्रथम उपन्यास को लेकर मतभेद की स्थिति रही है। इस संदर्भ में दो उपन्यासों, पहला श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत 'भाग्यवती' (1877) तथा दूसरा लाला श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षा गुरू' (1882) का नाम लिया जाता है। इन दोनों ही उपन्यासों की हिंदी उपन्यास के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रकाशित 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास से हिंदी उपन्यास का आरंभ माना जाता है। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि - "पं.गौरीदत्त रचित देवरानी-जेठानी की कहानी (1870) एक ऐसी पुस्तक थी, जिसे हिंदी का पहला उपन्यास होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।"[5] इस क्रम में 'वामा शिक्षक' उपन्यास का नाम भी विचारणीय है। मुख्यतः 'वामा शिक्षक' तथा 'भाग्यवती' उपन्यास स्त्री के चरित्र निर्माण तथा स्त्री-शिक्षा को आधार बनाकर लिखे गये हैं। परंतु हिंदी का पहला उपन्यास होने का गौरव 'परीक्षा गुरू' को प्राप्त हुआ। यह भी विवाद का विषय रहा है कि प्रथम उपन्यास किसे माना जाए? आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने 'परीक्षा गुरू' को अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास माना है। अतः कुछ विवादो को छोड़कर यही सर्वमान्य भी है।

हिंदी उपन्यास के प्रारंभिक चरण में ऐसे बहुत कम उपन्यास लिखे गये थे जिनमें मुस्लिम अस्मिता की चर्चा की जा सके। इस समय के उपन्यासों में समाज सुधार तथा मनोरंजन प्रधान उपन्यासों की प्रधानता दिखाई देती है। प्रथम उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' में मुख्यतः स्त्री-शिक्षा के विकास तथा स्त्री-जीवन पर उसके पड़ने वाले प्रभावों को आधार बनाकर लिखा गया है। इस उपन्यास के केंद्र में मेरठ का अग्रवाल परिवार है। इसके बाद ईश्वरीय प्रसाद और कल्याण राय द्वारा लिखा गया उपन्यास 'वामा शिक्षक' भी इसी तर्ज पर लिखा गया है जिसमें मुस्लिम अस्मिता की चर्चा नहीं है। 'वामा शिक्षक' में लेखक बाल-विवाह का विरोध करते हैं तथा स्त्री-शिक्षा पर बल देते दिखाई देते हैं। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि - "नये विचारों

का मथुरा दास बाल विवाह का विरोधी है और वह अपनी लड़की का विवाह चौदह वर्ष की अवस्था में तथा लड़के का विवाह सत्रह वर्ष की अवस्था में करते हैं। वह विवाह के अवसर पर किए जाने वाले अपव्यय का भी विरोधी है और इन पैसों से अस्पताल बनवाने, कुँआ, तलाब आदि निर्मित करने का समर्थक है।"[6] 1877 में प्रकाशित 'भाग्यवती' उपन्यास की विषय वस्तु इसी प्रकार की है। इसे भी स्त्री-क्षा पर केंद्रीत करके लिखा गया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार हिंदी का पहला उपन्यास 1882 ई. में प्रकाशित 'परीक्षा गुरू' है। इस उपन्यास की अंतर्वस्तु में कई तरह के प्रयोग दिखाई देते हैं। इसमें उन्हीं घटना प्रसंगों को लिया गया है जो निजी और वास्तविक जान पड़ते हैं। इस उपन्यास में सभी धर्मों और पेशे से संबंधित पात्र दिखाई देते हैं। इस संदर्भ में मधुरेश लिखतें हैं कि - "हिंदू, मुसलमान और अंग्रेज आदि सभी धर्म और सम्प्रदाय के पात्रों के कारण यह उपन्यास उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज का एक प्रतिनिधि चित्र बन जाता है।"[7] हाकिम अहमद हुसैन जैसे पात्रों को जगह देकर लेखक ने संपूर्ण समाज के यथार्थ को रेखांकित करने की कोशिश की है।

राधाकृष्ण दास कृत 'निःसहाय हिंदू' प्रेमचंद पूर्व युग का पहला उपन्यास है जिसमें व्यापक रूप से मुस्लिम समाज को पाठक के सामने प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। इस उपन्यास की रचना लेखक ने मात्र तेरह वर्ष की आयु में की थी। कुछ कारणवश इसका प्रकाशन 1890 में हुआ। इस उपन्यास में काशी का छायाचित्र अंकित किया गया है। यहाँ समाज के हर वर्ग का चित्र प्रस्तुत करने की कोशिश दिखाई देती है। साम्प्रदायिक सद्भाव के उद्देश्य से लिखा गया यह उपन्यास अपने रचनाकाल से नौ वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। यहाँ विविध मानसिकता के पात्रों का विवरण देखने को मिलता है। उपन्यास में अब्दुल अजीज जैसे पात्र का सृजन हुआ है जो मुसलमान होते हुए भी गोवध को रोकने के लिए अपने प्राणों की आहुति दे देता है। यहाँ अंग्रेजों की धार्मिक कट्टरता और विभेदकारी नीतियों का भी उल्लेख किया गया है। इस उपन्यास में दोनों धर्मों में व्याप्त धार्मिक कट्टरता को रेखांकित किया गया है। एक तरफ अब्दुल अजीज जैसे

सज्जन पात्र है वहीं दूसरी तरफ हाजी अताउल्लाह जैसे नकारात्मक चरित्र वाले पात्र भी हैं जो अपने स्वार्थ के लिए हत्या तक करने से पीछे नहीं हटता है। अब्दुल अजीज धर्म की रक्षा करते हुए कट्टर मुसलमानों का साथ न देकर सत्य, धर्म और नैतिकता का साथ देते हैं तथा मदन मोहन के साथ खड़ा रहता है। इस तरह लेखक ने इस उपन्यास में गोवध निवारण आंदोलन में मुसलमानों को हिंदुओं का हितैषी बताते हुए सर्वधर्म समभाव की स्थापना की है।

इस युग में बालकृष्ण भट्ट एक महत्वपूर्ण रचनाकार और आलोचक के रूप में स्थापित हैं। इन्होंने अनेक उपन्यासों की रचना की है जिसमें प्रमुख रूप से नूतन ब्रह्मचारी, रहस्य कथा, गुप्त बैसी, सद्भाव का अभाव, सौ अजान और एक सुजान आदि उपन्यास प्रमुख हैं। इसमें 'सौ अजान एक सुजान' के अतिरिक्त सभी उपन्यास अधूरे हैं। 'सौ अजान एक सुजान' एक शिक्षाप्रद उपन्यास है। लेखक ने तत्कालीन मध्यवर्गीय सामाजिक परिवेश को आधार बनाकर कथा को प्रस्तुत किया है। इसमें हाकिम साहब और हम्शिरा हुमा बेगम आदि मुस्लिम पात्रों के माध्यम से तत्कालीन मुस्लिम समाज के यथार्थ को व्यक्त करने की कोशिश की है। प्रेमचंद पूर्व युग में सबसे ज्यादा पढ़े जाने वाले उपन्यासों में चंद्रकांता और चंद्रकांता संतति का नाम लिया जाता है। देवकीनंदन खत्री द्वारा रचित यह तिलिस्मी उपन्यास पाठक के मन पर अपनी गहरी छाप छोड़ते हैं। उस समय सबसे अधिक पढ़ी जाने वाली इस पुस्तक के कारण अनेक पाठकों ने हिंदी सीखी। जिस समय यह उपन्यास लोकप्रिय हो रहा था हिंदी कथा साहित्य के क्षेत्र में जासूसी उपन्यासों की परंपरा विकसित होती दिखाई देती है। गोपालराम गहमरी जासूसी उपन्यासकारों में एक महत्वपूर्ण नाम है। प्रमुख रूप से सरकटी लाश जैसे उपन्यासों की रचना करते दिखाई देते हैं। इनके उपन्यासों में रोचकीय जासूसी घटनाएं विषय वस्तु बनती हैं। इनमें पात्रों का सजीव चित्रण होता दिखाई देता है। हिंदू-मुस्लिम पात्रों को इन्होंने अपने साहित्य में स्थान दिया है।

प्रेमचंद पूर्व पाठकों का एक ऐसा वर्ग था जो मुख्य रूप से तिलिस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यासों को पसंद करता था। इस समय में किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐतिहासिक और सामाजिक

उपन्यास लिखकर पाठकों को अपनी तरफ आकर्षित करने का कार्य किया। 'लखनऊ की कब्र', 'अंगूठी का नगीना', 'माधवी माधव', 'स्वर्गीय कुसुम', आदि उपन्यासों की रचना इन्होंने की है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे जिनमें तारा तथा सुल्तान रजिया बेगम प्रमुख हैं। इन उपन्यासों में इतिहास का कम और कल्पना का सहारा अधिक लिया गया है। लेखक सनातन धर्म में विश्वास करते थे। यही कारण है कि इनकी अधिकांश रचनाओं में मुसलमानों को हेय दृष्टि से देखते हुए उन्हें पापी, अत्याचारी और विश्वासघाती दिखाया गया है। इतिहास से हिन्दुओं की हृदयविदारक कहानी पढ़कर अपने उपन्यासों में हिंदू रानियों की पतिव्रता, धर्म एवं इज्जत की रक्षा हेतु प्राणाहूति को दिखाया गया है। कई स्थानों पर राजपूतों की शौर्य गाथाएं भी कही गई हैं।

निष्कर्षतः प्रेमचंद पूर्व युग हिंदी उपन्यास का बीजारोपण काल रहा है। इस काल में मौलिक उपन्यासों के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं से अनुवाद का कार्य भी हो रहा था। इस युग की विशेषता यह रही है कि इसमें समाज सुधार, उपदेशात्मकता, स्त्री-शिक्षा पर जोर, विधवा पुनर्विवाह का समर्थन आदि विषयों को उपन्यास विधा ने प्रमुख विषय के रूप में अपनाया। प्रथम चरण के तीनों उपन्यासों में 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक' तथा 'भाग्यवती' की विषय वस्तु समान है। जो प्रमुख रूप से स्त्री जीवन के मूलभूत सवालों पर केंद्रित है। 'निःसहाय हिंदू' पहला उपन्यास है जिसमें मुस्लिम पात्रों तथा उनके जीवन को आधार बनाया गया है। यह उपन्यास हिंदू-मुस्लिम सामासिक संस्कृति को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ता दिखाई देता है। लेखक उसके माध्यम से दोनों धर्मों के लोगों के बीच धार्मिक सौहार्द स्थापित करते दिखाई देते हैं। फिर भी अधिकांश रचनाकारों की रचनाओं में मुस्लिम अस्मिता और साम्प्रदायिकता के प्रश्नों पर एक प्रकार की चुप्पी व्याप्त है।

संदर्भ सूची:

1. रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यास: एक अंतर्यात्रा, पृष्ठ-14
2. मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास, पृष्ठ-11
3. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-64
4. वही, पृष्ठ-21
5. वही, पृष्ठ-17
6. वही, पृष्ठ-30
7. मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास, पृष्ठ-14

1.2 प्रेमचंद युगीन उपन्यास

प्रेमचंद युग को हिंदी कथा साहित्य के इतिहास में स्वर्णिम युग माना जाता है। इस युग की समय सीमा प्रेमचंद के पहले हिंदी उपन्यास 'सेवासदन' (1918) से शुरू होकर अंतिम उपन्यास 'गोदान' (1936) तक माना जाता है। इस युग में प्रेमचंद के अलावा कई महत्वपूर्ण रचनाकार हुए हैं। जिनमें पांडेय बेचन शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमण सिंह, वृंदालाल वर्मा, जयशंकर प्रसाद आदि के नाम प्रमुख हैं। इन सभी रचनाकारों के बीच प्रेमचंद एक ऐसे साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिनकी लेखनी ने उन्हें उपन्यास सम्राट के पद पर स्थापित किया। इन्होंने साहित्य को जीवन की समग्रता के साथ जोड़ा। इस संदर्भ में रामचंद्र तिवारी ने लिखा है कि - "प्रेमचंद ने साहित्य को जीवन की व्यापक अनुभूति के साथ सम्बद्ध करके देखा था। उन्होंने उसे सुरूचि जागृत करने वाला, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति देनेवाला, सौंदर्यबोध का उन्मेष करने वाला तथा शक्ति और गति उत्पन्न करने वाला माना था। इसीलिए उनके उपन्यासों में व्यक्ति-चेतना, समाज-मंगल, यथार्थ की अनुभूति, आदर्श की कल्पना, बाह्य-घटनावैविध्य, आंतरिक मनोमंथन एवं भावद्वंद्व सभी कुछ मिल जाता है।"[1]

प्रेमचंद युग भारतीय इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय समाज बड़े सामाजिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा था। साम्राज्यवादी शक्तियों के विरूद्ध भारतीय समाज में स्वतंत्रता की कामना प्रबल हो रही थी। समाज की आंतरिक संरचना में भी एक बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है। धार्मिक विभेद, जाति प्रथा का विरोध तथा स्त्रियों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण का विकास इस समय के समाज में व्याप्त घटनाओं में प्रबल रूप से काम कर रही थी। एक ऐसा समय जब समाज एक बड़े परिवर्तन के दौर से गुजर रहा हो उस समय में एक साहित्यकार की जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं। उसके लिए यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह तत्कालीन कुरीतियों के खिलाफ साहित्यिक अभिव्यक्ति दे। प्रेमचंद एक धर्मनिरपेक्ष और सहिष्णु व्यक्ति थे। उनके

साहित्य में सर्वधर्म समभाव दिखाई देता है। प्रेमचंद युग का साहित्य एक बड़े परिवर्तन का सूचक है, जिसके अंतर्गत साहित्य में वंचित और हाशिये के समाज को अभिव्यक्ति देते हैं।

प्रेमचंद अपने साहित्य में दबे-कुचले समुदाय, दलित, शोषित, स्त्रियों तथा किसानों की साहित्यिक अभिव्यक्ति करते हैं। प्रेमचंद यह जानते थे कि साम्राज्यवादी शक्ति से मुक्ति पाने से पहले भारतीय समाज को अपने भीतर की सामाजिक विसंगतियों से मुक्त होना पड़ेगा। वह मानते थे कि -"हिंदू-मुस्लिम एकता का मसला बहुत ही नाजुक है और अगर पूरी धीरज और रवायती से काम न लिया गया तो स्वराज्य के आंदोलन के रास्ते में सबसे बड़ी रूकावट होगा।"[2] साम्प्रदायिकता की गंभीरता से प्रेमचंद भली-भांति परिचित थे। वें जानते थे कि भारत में अपनी जड़ों को मजबूत करने के लिए अंग्रेज हिंदू-मुस्लिम एकता को नष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं। इस क्रम में उनका साहित्य साम्प्रदायिकता की गहरी आलोचना करते हुए विकसित हो रहा था। भावी भारत का स्वप्न देखने वाले रचनाकारों में प्रेमचंद एक महत्वपूर्ण नाम है। भारतीय समाज में बाह्य और आंतरिक शक्तियों द्वारा फैलाए जाने वाले वैमनष्य का विश्लेषण इनके साहित्य में देखा जा सकता है। हिंदू और मुसलमान के बीच लगातार फैलने वाली नफरत के प्रति प्रेमचंद चिंतित नज़र आते हैं।

साहित्यिक दृष्टि से प्रेमचंद का बहुत महत्व है। इनकी रचनाएँ अपनी परंपरा से प्रेरणा ग्रहण करती हैं लेकिन उसमें कुछ महत्वपूर्ण संशोधन भी करती नज़र आती हैं। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि - "प्रेमचंद साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी थे। वे उस साम्प्रदायिक मानसिकता से बिल्कुल मुक्त थे जो मुसलमानों को विदेशी और हिंदू विरोधी समझती थी। उन्होंने हिंदी उपन्यास को उस संकीर्ण विचारधारा से मुक्त करने का प्रयास किया जिसके तहत मुसलमान पात्रों को काले और हिंदू पात्रों को सफेद रंग में चित्रित किया जाता था। उन्होंने अपने को देवकीनंदन खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी, गंगा प्रसाद गुप्त आदि उपन्यासकारों से न जोड़कर भारतेंदु युग के लेखकों, विशेषकर राधाकृष्ण दास से जोड़ा, जिन्होंने पहली बार 'निःसहाय हिंदू'

में साम्प्रदायिक सौहार्द का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया। प्रेमचंद समाज के जिस वर्ग में भी साम्प्रदायिकता, धार्मिक उन्माद और पाखंड देखते हैं उस पर निर्मम प्रहार करते हैं।"[3] प्रेमचंद अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों के द्वारा विकसित की जाने वाली विधाओं का विकास तो कर रहे थे साथ ही उनमें तत्कालीन समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए परिवर्तन भी कर रहे थे। उनके पात्र किसी धर्म या जाति के होने से पहले मनुष्य होते हैं।

प्रेमचंद का पहला उपन्यास 'सेवासदन' वेश्यावृत्ति की समस्या पर आधारित है। भारतीय समाज में पितृसत्तात्मकता की जड़े अत्यधिक मजबूत हैं। भारतीय संस्कृति का गुणगान करने वाले समूह यह भूल जाते हैं कि लंबे समय से समाज की इस संकीर्ण व्यवस्था ने स्त्रियों को अपना शिकार बनाया है। इस व्यवस्था की बारीकियों को समझते हुए लेखक इसके नुकसान को रेखांकित करते हैं। इस संदर्भ में रामविलास शर्मा का मानना है कि - "प्रेमचंद यह दिखलाते हैं कि नारी की पराधीनता और वेश्यावृत्ति हिंदुओं और मुसलमानों दोनों में हैं। वह इस्लामी संस्कृति और हिंदू संस्कृति का डंका बजाने वालों से कहते हैं - देखो, यह है तुम्हारी संस्कृति जो हिंदू और मुसलमान दोनों ही धर्मों की स्त्रियों से वेश्यावृत्ति करवाती है।"[4] मुख्यतः वेश्यावृत्ति, दहेज और अनमेल विवाह को आधार बना कर लिखे जाने वाले इस उपन्यास में मुस्लिम समाज को अलग से जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती। समाज में भीतर तक साम्प्रदायिकता की जड़े कितनी मजबूत हैं इसका अंदाजा इस उपन्यास के विभिन्न प्रसंगों से लगाया जा सकता है। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि - "सेवासदन में प्रेमचंद ने हिंदू-मुस्लिम संबंधों को भी वेश्यावृत्ति के साथ जोड़कर देखा है। व्यवसायियों के आर्थिक स्वार्थ सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं को किस प्रकार साम्प्रदायिकता का रूप दे देते हैं, इसका चित्रण पहली बार सेवासदन में मिलता है।"[5] इस दृष्टि से प्रेमचंद एक कालजयी रचनाकार बनकर उभरते हैं। इस उपन्यास में वेश्या उद्धार को भी साम्प्रदायिक रंग देने की कोशिश दिखाई देती है। यहाँ ऐसे कई पात्र हैं जो इस संदर्भ में मानवीय दृष्टिकोण की सहायता लेते हैं जिसमें प्रमुख रूप से तेग अली और शरीफ हसन ऐसे ही

पात्र हैं। इस तरह के पात्र समाज में साम्प्रदायिक सौहार्द स्थापित करने की कोशिश करते दिखाई देतें हैं। शरीफ हसन अपनी धर्म निरपेक्षता का परिचय देते हुए बोलते हैं कि- "इसमें तो कोई बुराई नहीं कि वे (वेश्याएं) अपने को मुसलमान कहती हैं बुराई यह है कि इस्लाम भी उन्हें राहे-रस्त पर लाने की कोशिश नहीं करता। हिंदुओं की देखा देखी इस्लाम ने भी उन्हें अपने दायरे से खारिज कर दिया है। जो औरत एक बार गुमराह हो गई, उसकी तरफ से इस्लाम हमेशा के लिए अपनी आंखें बंद कर लेता है। बेशक हमारे मौलाना साहेब सब्ज माम बांधे, आखों में सूरमा लगाए, गेसू संवारे उनकी मजहबी तसकीन के लिए जा पहुँचते हैं।"[6] इन पक्तियों से स्पष्ट है कि शरीफ हसन ऐसे मौलाना को कटघरे में खड़ा करते हैं, जो इस्लाम के नाम पर मुसलमानों को गुमराह करने का काम करते हैं। प्रेमाश्रम उपन्यास इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें वास्तविक भारत की तस्वीर को सामने लाने की कोशिश दिखाई देती है। असल में प्रेमचंद के द्वारा निर्मित भारतीयता की विचारधारा में सभी धर्मों का मिलाजुला रूप सम्मिलित हैं जिसका प्रमाण इनका कथा साहित्य है। इस उपन्यास में लखनऊ के पास के गाँवों का चित्रण मिलता है। यह गाँव भारत का वास्तविक गाँव है जिसमें अलग-अलग धर्मों के लोग आपसी सौहार्द के साथ रहते हैं। प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर के वकील इरफान अली का संबंध महत्वपूर्ण है। इस तरह से प्रेमचंद के अनेक उपन्यासों में हिंदू-मुस्लिम संबंध के आपसी रिश्तों को बेहतर ढंग से व्यक्त किया गया है। जबकि उनके समकालीन रचनाकारों में इस प्रकार से वृहद मुस्लिम समाज का चित्रण नदारद है।

'रंगभूमि' उपन्यास में सोफिया के माध्यम से लेखक धर्मनिरपेक्षता तथा मानवतावादी विचार को सामने लेकर आते हैं। सोफिया एक धर्म निरपेक्ष लड़की है और वह इन धार्मिक पाबंदियों को तोड़ना चाहती है। वह मानवतावादी विचारों की लड़की है। इसलिए एक हिन्दू लड़के से प्रेम करती हुई धर्म रूपी दिवार को तोड़ती है। सोफिया पूरे समाज को सन्देश देती है कि प्रेम के माध्यम से सभी धर्म के लोग एक हो सकते हैं, उनके बीच की खाई को ख़तम किया जा सकता है। धर्म हमेशा शान्ति का पाठ पढ़ाता है। इस्लाम का अर्थ भी 'शांति में प्रवेश करना' है

अर्थात वहाँ भी धर्म को शांति का प्रतीक माना गया है जो मानव कल्याणकारी होता है। प्रेमचंद भी धर्म के इसी मान्यता को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि - "धर्म हमारी रक्षा और कल्याण के लिए है। अगर वह हमारी शांति और देह को सुख प्रदान नहीं कर सकता तो मैं उसे पुराने कोट की तरह उतार फेकना पसंद करूँगा। जो धर्म हमारी आत्मा का बंधन हो जाए, उससे जितनी जल्दी हम अपना गला छुड़ा ले, उतना ही अच्छा।"[7] धर्म के इसी स्वरूप को लेकर प्रेमचंद अपने कथा में पात्रों को गढ़ते हैं। सूरदास, सोफिया, बिनय, प्रभु सेवक आदि ऐसे ही पात्र हैं।

'कायाकल्प' पुनर्जन्म की घटना पर आधारित उपन्यास है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम संबंध को बारीकी से उजागर किया गया है। धार्मिक समस्या प्रेमचंद युग की ज्वलंत समस्य थी। प्रेमचंद ने लगभग सभी उपन्यासों में इस समस्या को उजागर करने की कोशिश की है। इस उपन्यास की मुख्य समस्या भी वही है, "कायाकल्प की मुख्य समस्या हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य है, जो उस समय भारत की बड़ी समस्या बनी हुई थी"[8] 'कायाकल्प' में हिन्दू मुस्लिम के बीच दंगा का चित्रण हुआ है। दूसरी तरफ धार्मिक सौहार्द को भी दर्शाया है। दरअसल इसमें दो मित्रों की आत्मीय संवेदना के माध्यम से दोनों धर्मों के बीच साम्प्रदायिक सौहार्द स्थापित किया गया है। ख्वाजा साहब और यशोदानंदन के मध्य घनिष्ठ मित्रता है। दोनों एक-दूसरे पर जान छिड़कते हैं। यशोदानन्दन अहिल्या नामक एक अनाथ लड़की को अपने यहाँ रख कर उसका पालन पोषण करता है। एक दिन दुर्भाग्यवश दंगा छिड़ जाता है और उसका शिकार यशोदानंदन होता है। अहिल्या का भी अपहरण कर लिया जाता है। ख्वाजा साहब अहिल्या को ढूंडने का प्रण लेते हैं, "कलामे मज़ीद की कसम, जब तक अहिल्या का पता न लगा लूँगा, मुझे दाना-पानी हरम है"[9] इस प्रण में ख्वाजा साहब की सहृदयता एवं धर्म निरपेक्षता का भाव झलकता है।

'कर्मभूमि' उपन्यास में भी प्रेमचंद ने हिन्दू-मुसलमान एकता पर बल देते हुए यह दिखाने की कोशिश की है कि स्वतंत्रता की लड़ाई में हिन्दुओं के साथ-साथ सलीम जैसे सच्चे मुसलमान

ने भी साथ दिया था। अमरकांत हिन्दू पात्र है जिसकी मित्रता सलीम से है। इसके अलावा अमरकांत एक मुस्लिम लड़की सकीना से प्रेम करता है। उस समय ऐसा प्रेम सम्बन्ध वर्जित था परन्तु लेखक इन दोनों के माध्यम से एकता स्थापित करना चाहते हैं। अमरकांत अपनी सकीना को प्राप्त करने हेतु इस्लाम कबुल करने तक को तैयार हो जाता है। प्रेम के आगे वह धर्म की दीवार को भी तोड़ना चाहता है।

'गोदान' प्रेमचंद का सबसे उत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है जिसमें मनुष्य जीवन की समग्रता समाहित है। प्रेमचंद ने इसमें मुस्लिम पात्रों को स्थान देकर साम्प्रदायिक सद्भावना को प्रतिष्ठित की है। वे जिस समय अपनी रचनाओं का सृजन कर रहे थे वह समय साम्प्रदायिक वैमनष्य का था। दंगे-फसाद होते रहते थे। इसके बावजूद प्रेमचंद अपने उपन्यासों में साम्प्रदायिक सौहार्द बनाये रखते हैं ये उनकी काबिलियत थी। मुस्लिम पात्र मिर्जा खुर्शेद और अलादीन जैसे पात्र को हिन्दुओं का मित्र बताकर हिन्दू-मुस्लिम एकता की मिसाले दी है। मिर्जा साहब और राय साहब में पुरानी मित्रता है दोनों एक-दूसरे के साथ उठते-बैठते हैं। साथ में खाते-पिते हैं। साथ-साथ उत्सवों में भाग लेते हैं। कहीं भी किसी प्रकार का धार्मिक द्वेष नहीं झलकता। उस समय हिन्दू-मुस्लिमों के बीच ऐसी मित्रता का चित्रण करना सच में दोनों समुदायों को एक-दूसरे के ह्रदय के करीब लाने का सार्थक प्रयास कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोदान में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध को कितना पाक दिखाया गया है। दरअसल प्रेमचंद हिन्दू-मुस्लिमों के बीच ऐसे संबंध की कल्पना करते थे जिसमें दोनों एक-दूसरे के साथ भाई-भाई के जैसा रहे, एक-दूसरे की संस्कृति से जुड़े, एक-दूसरे के उत्सवों में भाग ले। ऐसा तभी हो सकता था जब दोनों मजहबों के पंडा और मौलवी कट्टर विचारों को समाप्त कर आम लोगों में भाईचारे का सन्देश दें। परन्तु ये वर्ग स्वार्थी होते हैं, निजी स्वार्थ सिद्ध करने में लगे रहते हैं। प्रेमचंद ऐसे मौकापरस्तों के कट्टु आलोचक थे। अमृत राय लिखते हैं कि प्रेमचंद "अपने युग की धार्मिक कट्टरता एवं रूढ़िवादिता से भलीभांति परिचित थे। धर्म के नाम पर

शोषण करने वाले पंडा, पुरोहित वर्ग की स्वार्थपरता के वे कट्टु आलोचक थे और उन्हें हिन्दू जाति का घृणित कोढ़ एवं लज्जाजनक कलंक मानते थे"[10] प्रेमचन्द युग में अन्य उपन्यासकारों ने भी मुस्लिम अस्मिता को रेखांकित किया है। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र इनमें प्रमुख माने जाते हैं जिन्होंने अपने उपन्यासों में न केवल मुस्लिम अस्मिता को उजागर किया बल्कि मुस्लिम पात्र का हिन्दू के साथ प्रेम सम्बन्ध भी स्थापित किया है। उनका साहित्य सामाजिक यथार्थ से भिड़ने वाला साहित्य है। उनके साहित्य में समाज के उस हिस्से को अधिक वरीयता प्राप्त हुई है जिसे समाज हमेशा अलग दृष्टि से देखता है। यही कारण है कि वे हमेशा विवादों से घिरे रहे, परन्तु उन्होंने अपना रास्ता नहीं बदला। सामाजिक समस्याओं को अपने हिसाब से उद्घाटित करते रहे। राष्ट्रीय प्रेम से उद्भूत होकर उन्होंने 'उसकी माँ' कहानी के माध्यम से भारत माँ का चित्र प्रस्तुत किया था। उग्र के प्रमुख उपन्यास है – 'चन्द हसीनों के ख़ुतूत' (1927), 'दिल्ली का दलाल' (1927), 'बुधुआ की बेटी' (1928), 'शराबी' (1930) आदि। 'बुधुआ की बेटी' का दूसरा संस्करण 'मनुश्यानंद' शीर्षक से 1955 ई. में प्रकाशित हुआ था। 'चंद हसीनों के ख़ुतूत' और 'खुदा राम' उनकी अमर रचना है। इन रचनाओं के माध्यम से साम्प्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है। 'खुदाराम' उनकी एक लम्बी कहानी है, जिसमें ईश्वर और खुदा के नाम पर लड़ने वाले लोगों का चरित्र सबके सामने लाया गया है। इन लोगों को सच्ची इंसानियत से रूू-ब-रू कराया गया है। 'चंद हसीनों के ख़ुतूत' साम्प्रदायिकता की समस्या को विस्तृत संदर्भ में पेश करने वाली रचना है। उपन्यास में लेखक हिन्दू युवक एवं मुसलमान युवती के प्रेम संबंध को स्थापित कर उनके बीच विवाह भी संपन्न कराते हैं। इस तरह वे दोनों धर्मों के बीच साम्प्रदायिक सद्भाव को प्रतिष्ठित करते हैं। प्रेमचंद दो अलग समुदाय में अंतर्जातीय विवाह को सफल नहीं कर पाए थे, परन्तु वह काम उग्र करने की हिम्मत कर पाते हैं। वास्तव में उस समय इस तरह हिन्दू-मुसलमान के बीच शादी जैसा संबध स्थापित करना मुश्किल का काम था। परन्तु उग्र जी इसकी परवाह न करते हुए एक सफल प्रयास करते हैं - "इस उपन्यास में उग्र जी ने मुरारी और नर्गिस की

प्रेमकथा के माध्यम से इस विचार का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य पहले मनुष्य है, बाद में वह भले ही हिन्दू-मुसलमान या किसी जाति विशेष का सदस्य हो"[11] इसके अलावा उग्र 'सरदार तुम्हारी आँखों में' भी हिन्दू-मुस्लिम संबंध को दिखाया है। इस उपन्यास में एक हिन्दू राजा की कहानी है जो एक छद्म कला प्रेमी है। कला प्रेमी होने के कारण एक तरफ वह उस्ताद गुलाब खाँ की कद्र करता है, और दूसरी तरफ उसकी बेटी फिरोजी से संबंध भी स्थापित करना चाहता है। फिरोजी जैसे तैसे अपने प्राण बचाकर भाग निकलती है और पिता-पुत्री का फिर से मिलन हो जाता है। कहानी में ट्विष्ट यह है कि इस घटना का राजनीतिकरण किया जाता है, और इस बात पर बल दिया जाता है कि किस प्रकार मुसलमानों को हिन्दू राजा के विरुद्ध भड़का कर हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया जाता है। दरअसल उन्होंने उपन्यास में ऐसी स्थिति पैदा कर यह सिद्ध किया है कि लम्पटों का कोई धर्म, इमान नहीं होता। वैसे लोग किसी धर्म का नहीं हो सकता है। ऐसे लोग दंगे करवा कर निजी स्वार्थ की पूर्ति करता है। इस प्रकार देखते हैं कि उग्र अपने कथा साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम संबंधों वाले पात्रों के सामंजस्य से साम्प्रदायिकता की समस्याओं से सीधे साक्षात्कार करते हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री प्रेमचंद युग के ख्यातिप्राप्त व्यक्ति हैं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी प्रकार के साहित्य पर अपनी कलम चलाई है। 'वैशाली की नगरबधू' उनकी सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यास है। इसमें बौद्धकाल के समय को विषय बनाया गया है। इतिहास को विषय बनाकर वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में लिखना उनकी काबिलियत थी। सामाजिक समस्याओं को ध्यान में रखते हुए साहित्य की रचना करने में सिद्धहस्त थे। उन्होंने हिन्दू युग के साथ-साथ मुस्लिम शासन के युग को भी अपने उपन्यास में समेटा है। मुस्लिम पात्रों को अपनी आत्मीयता प्रदान करते हुए 'ठेलेवाला शहजादा' में बहादुरशाह जफ़र के वंश को दिल्ली में ठेला खींचते हुए चित्रित किया गया है। इसके अलावा 'दुखवा मैं कासे कहू' में भी मुस्लिम शासन युग की दुखभरी प्रणय कथा अभिव्यंजित हुई है। इन्होंने भी अपने कथा साहित्य

में साम्प्रदायिकता की समस्या उठाया है। 'धर्मपुत्र' उपन्यास में शास्त्री जी ने साम्प्रदायिकता की समस्या को केंद्र में रखकर हिन्दू-मुस्लिम संबंधों का चित्रण किया है। लेखक ने इस कथा के माध्यम से दोनों समुदायों में आपसी भाईचारा और धार्मिक सौहार्द को बढ़ावा देने का प्रयास किया है। शास्त्री जी ने इस उपन्यास में एक हिन्दू डॉ. द्वारा मुस्लिम मित्र की कन्या का उद्धार कराया है। मुस्लिम नवाब की युवती हुस्नबानू विवाह से पूर्व किसी मुस्लिम प्रेमी द्वारा गर्भ धारण कर लेती है। नवाब चिंतित रहने लगते हैं। एक दिन अपने मित्र डॉ. से इस विषय में बताते हुए लोक लाज के डर से उसका गर्भ गिरा देने का अनुरोध करते हैं। परन्तु डॉ. अमृत राय मानवता के नाते उसे गर्भ न गिराने का अनुरोध करते हैं। उनका मित्र नवाब और उनकी पुत्री की बदनामी न हो इस कारण बच्चे के जन्म लेते ही डॉक्टर उसे अपने पुत्र के रूप में स्वीकार कर उसे हिन्दू के रूप में पालन-पोषण करते हैं। बाद में वह युवक अपनी असलियत को जानता है और अंतर्द्वंद्व में फंस जाता है। परन्तु अंत में वह हिन्दू प्रेमिका से विवाह कर हिन्दू-मुस्लिम संबंध को सुदृढ़ करता है। इसमें संदेह नहीं कि शास्त्री जी ने अपने सभी उपन्यासों में हिन्दू-मुस्लिम संबंध को निष्पक्ष भाव से चित्रित किया है। शास्त्री जी एक वस्तुपरक कथाकार थे, वे मानवता की जगह मनुष्य को स्वीकारते थे, उसकी पूजा करते थे। उनका मानना था कि 'मनुष्य मेरा देवता है' और वो उसी को केंद्र में रखकर साहित्य की रचना करते थे। परन्तु इन सब के इतर उनकी एक कृति है 'इस्लाम का विष वृक्ष' जो निहायत उनकी साहित्य का एक काला अध्याय है। इसमें लेखक ने हिन्दुओं पर मुसलमानों का अतिरंजित अत्याचार का वर्णन किया है, जो साम्प्रदायिकता फ़ैलाने का काम करने वाली कृति है। प्रेमचंद ने 'इस्लाम का विष वृक्ष' पर अपनी लम्बी प्रतिक्रिया दी है, "हम नहीं समझते कि इस तरह की लचर, बे बुनियाद, धोखे में डालनेवाली बातों के प्रचार का इसके सिवा और क्या उद्देश्य है कि हिन्दुओं में मुसलमानों के प्रति घृणा व द्वेष पैदा किया जाय।"[12] इस तरह की पुस्तक अवश्य ही हिन्दुओं के मन में इस्लाम के प्रति घृणा का भाव ही जागृत करेगा और उन्हें इस्लाम और मुसलमानों का विरोधी बनाएगा।

परिपूर्णानंद वर्मा का एक उपन्यास 'मेरी आह' का प्रकाशन सन् 1932 ई. में हुआ था। इस उपन्यास का विषय भी दंगा है, और इसमें लेखक ने साम्प्रदायिक सद्भावना बढ़ाने की कोशिश की है। वर्मा को इस कार्य में सफलता प्राप्त हुई है।

वृन्दावन लाल वर्मा प्रेमचंद युग के ख्याति प्राप्त ऐतिहासिक लेखक है। उन्होंने इतिहास को एक सुनिश्चित दृष्टिकोण प्रदान करते हुए अपने उपन्यास में उसका इस्तेमाल किया है। उनके लेखन की विशेषता यह रही है कि उन्होंने कभी भी इस्लाम, मुसलमान या हिन्दू की विचाराधारा से प्रभावित होकर किसी पूर्वाग्रह का शिकार नहीं होकर साहित्य में उन्हीं तथ्यों को लेते हैं जो ऐतिहासिक यथार्थ हो जिसका प्रमाण हो। उनका साहित्य अधिकांशतः मध्यकाल के इतिहास पर आधारित है। अर्थात अगर उस समय मुसलमानों द्वारा लुट-पाट की गई थी तो उसका वैसा ही चित्रण है। 'विराटा की पद्मिनी' में अलीमर्दान, 'मृगनयनी' में सिकंदर लोदी अथवा 'टूटे कांटे' में नादिरशाह का चित्रण है। उस समय के हिन्दू राजाओं की कामलोलूपता, रूप लोलुपता, अत्याचारों का चित्रण भी बिना किसी झिझक के किया गया है। इनके उपन्यासों में मुसलमान पात्र अधिक आये हैं। उनमें अच्छे और बुरे दोनों पात्र हैं। कई मुसलमान पात्र ऐसे हैं जो लेखक की संवेदना प्राप्त कर सके हैं जैसे 'झाँसी की रानी' में तोपची गुलाम गौस खाँ और रानी की समाधी पर उनकी जय जय कार करता पठान गुल मुहमद ऐसे ही हैं। लेखक ने धर्म निरपेक्ष होकर हिन्दू और मुसलमान दोनों की सामंती मानसिकता की कठोर आलोचना भी की है।

जयशंकर प्रसाद छायावाद के चार स्तंभों में से एक माने जाते हैं। उन्होंने कुल तीन उपन्यास लिखे जिनमें 'कंकाल' और 'तितली' सम्पूर्ण है तथा 'इरावती' अपूर्ण। 'कंकाल' में प्रसाद ने हिन्दुओं के तीर्थस्थलों में होने वाले भ्रष्टाचार, पाप आदि को उजागर करते हुए उसका पोल खोल कर उनकी घोर निंदा की है। 'तितली' उपन्यास में मुसलमान पात्रों का चित्रण किया गया है। इसके अलावा आर्यसमाजी का रुख भी किया है परन्तु मुसलमानों के प्रति कोई द्वेष की भावना नहीं अपनाई गई है। प्रसाद धर्म निरपेक्ष व्यक्ति थे, इसमें कोई दो राय नहीं। वे हमेशा

सामाजिक यथार्थ को ऊपर रखते थे। धार्मिक संकुचित भाव उनके कथा को छू तक नहीं गई थी। इसका प्रमाण उपन्यासों के अलावा उनकी कहानियों में भी देखने को मिलता है। उनकी कहानियों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पात्रों को स्थान प्राप्त हुआ है। 'ममता' कहानी में हुमायूँ शेरशाह से परास्त होकर एक ब्राहमण युवती के यहाँ आश्रय पाते हैं। जब वह बादशाह बनते हैं तो अष्टकोण मंदिर का निर्माण करते हैं। साम्प्रदायिक सद्भावना की दृष्टि से यह कहानी एक मिसाल कायम करती है।

प्रताप नारायण श्रीवास्तव प्रेमचंद युग के एक और बड़े चेहरे हैं जिन्होंने 'बेकसी का मजार' नामक उपन्यास लिखा था। इस उपन्यास में 1857 के सैनिक विप्लव और स्वाधीनता आन्दोलन की प्रथम हुंकार का चित्रण किया गया है। अंग्रेजों द्वारा 'फुट डालो और राज करो' की नीति को उजागर करते हुए तत्कालीन परिस्थितियों से रू-ब-रू कराया है। इस नीति के तहत अंग्रेजों की कोशिश होती थी कि हिन्दू और मुसलमानों में फुट डाल कर दोनों के बीच एकता कायम नहीं होने देना। इसी योजना के तहत हिन्दुओं को मुसलमानों के प्रति भड़काया जाता है और बहादुरशाह जफ़र को हिन्दू विरोधी होने का मिथ्या प्रचार कराया जाता है। लेखक ने यह भी दिखाया है कि स्वतंत्रता की लड़ाई में जीनत महल भी साथ देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतापनारायण श्रीवास्तव एक धर्म निरपेक्ष लेखक की भूमिका निभाते हैं और साम्प्रदायिक सद्भावना को उर्जा प्रदान करते हैं।

संदर्भ सूची:

1. रामचंद्र तिवारी, हिंदी का गद्य साहित्य, पृष्ठ-191
2. (संकलन एवं रूपांतरण) अमृत राय, प्रेमचंद, विविध प्रसंग भाग-2, पृष्ठ-33
3. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-138
4. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, पृष्ठ-37
5. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-130
6. प्रेमचंद, सेवासदन, पृष्ठ-121
7. प्रेमचंद, रंगभूमि, पृष्ठ-548
8. डॉ. एम्.ए. गणेशन, हिंदी उपन्यास के विकास की रूपरेखा, पृष्ठ-65
9. प्रेमचंद, कायाकल्प, पृष्ठ-203
10. (संकलनकर्ता) अमृत राय, विविध प्रसंग-भाग 2, पृष्ठ-471
11. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-146
12. (संकलनकर्ता) अमृत राय, प्रेमचंद विविध प्रसंग-2, पृष्ठ-415

1.3 प्रेमचंदोत्तर उपन्यास

प्रेमचंदोत्तर युग प्रेमचंद युग का विस्तार है या यों कहे कि प्रेमचंद ने जिस साहित्य धारा का विकास किया उसको परवर्ती साहित्यकारों ने विकसित किया। इस युग की पृष्ठभूमि तैयार करने में प्रेमचंद का अद्वितीय योगदान रहा है। सन् 1936 ई. में भारत में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई थी जिसकी अध्यक्षता स्वयं प्रेमचंद ने किया था। लगभग यहीं से साहित्य में प्रगतिशीलता आने लगी, लेखकगण अपने साहित्य को प्रगतीशील बनाने लगे। इस युग के आरंभ के साथ ही साहित्य में एक नया मोड़ दिखाई देने लगा। यशपाल, जैनेद्र, अज्ञेय इस युग के अगुआ के रूप में सामने आए और धीरे-धीरे एक लम्बी क़तार बनती चली गई जिसमें इलाचंद्र जोशी, राहुल संकृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, वृन्दावन लाल वर्मा, रामचंद्र तिवारी, रामेश्वर शुक्ल अंचल आदि का नाम लिया जा सकता है।

प्रेमचंदोत्तर युग में उपन्यास की दो अलग-अलग धारा प्रवाहित होने लगी थी। अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचंद्र जोशी आदि लेखकों ने उपन्यास के कथ्य को मनोवैज्ञानिक आयाम प्रदान किया। "मनोविज्ञान की नयी धारा प्रेमचंद के मनोविज्ञान से वस्तुतः अलग धारा थी जो मनोविज्ञान की नवीन खोजों से प्राप्त सत्यों को आधार बनाकर चली, जिसका सम्बन्ध मूलतः अचेतन के लोक से है, चेतन के लोक से नहीं। मनोविज्ञान की इस नयी धारा ने न केवल मनोविश्लेषण शास्त्रियों द्वारा उद्घाटित रहस्यों को अपनाया बल्कि प्रकृतिवाद, अस्तित्ववाद, प्रतीकवाद आदि द्वारा गृहीत मानव सत्यों को भी आत्मसात किया"[1] यशपाल ने सामाजिक तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने ऐतिहासिक कथ्यों को नवीन संभावनाओं के साथ प्रस्तुत किया। इस काल में मार्क्सवादी विचारधारा के आगमन से साहित्य अछूती न रह सकी परिणाम स्वरूप सामाजिक रचनाओं में मार्क्सवादी साहित्यकारों ने सामाजिक यथार्थ को साहित्य के पटल पर लाकर खड़ा कर दिया। अध्यात्मिक मूल्यों पर प्रश्न चिन्ह लगाकर उसके अस्तित्व पर प्रहार करना आरंभ कर दिया था "प्रेमचंद के समय तक आध्यात्मिक मूल्यों का स्वप्न टूटा नहीं था,

वह राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण और भी दीप्त होता गया था। मार्क्सवाद के आग्रह से आध्यात्मिक मूल्यों का विघटन होता चला गया, स्वयं प्रेमचंद ने इसका तीव्र एहसास 'कफ़न' जैसी कहानी और 'गोदान' उपन्यास में किया था। प्रेमचंदोत्तर सामाजिक उपन्यासों में मार्क्सवाद का स्वर प्रधान न भी रहा हो किन्तु उसका प्रभाव निश्चय ही अन्तर्निहित रहा है"[2] इस प्रकार से प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में सामाजिक रचनाएँ सामाजिक होकर भी प्रेमचंद से अलग भी है और उनके साथ भी।

प्रेमचंदोत्तर युग की अतिरिक्त उल्लेखनीय विशेषता यह रही कि स्त्री विषयक समस्या को इस काल में अधिक जगह प्राप्त हुई है। लगभग सभी लेखकों ने स्त्री समस्या को कथा में जगह दी है। इन उपन्यासों में नारी की परम्परागत आदर्श पर चोट कर नारी को आधुनिकता की तरफ अग्रसित दिखाया गया है। इस काल में जगह नहीं मिली तो ग्रामीण जीवन को, संभवतः प्रेमचंद ने जिस प्रकार अपने कथा संसार में ग्रामीण जीवन को उभारा उसके बाद लेखकों के लिए शायद कोई क्षेत्र बचा ही नहीं। लेकिन इसके बावजूद गोविन्द बल्लभ पन्त कृत जुनिया(1940), रामचन्द्र तिवारी कृत कमला (1943) आदि उपन्यासों में ग्रामीण जीवन की प्रस्तुति मिलती है।

प्रेमचन्दोत्तर काल में अज्ञेय कृत 'शेखर एक जीवनी' (1940) को कथ्य, शिल्प और भाषा सभी दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना गया है। शेखर एक जीवनी में एक व्यक्ति का चरित्र ही पूरे उपन्यास का विजन बना है। सन् 1941 में यशपाल का पहला उपन्यास 'दादा कामरेड' का प्रकशन हुआ। उनके उपन्यासों पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव था। मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति वे कटिबद्ध थे। दादा कामरेड में साम्यवाद और आतंकवाद का समिश्रण है। इसके बाद इस काल में उनके कई और उपन्यास प्रकाशित हुए जिसमें 'देशद्रोही' (1943) 'दिव्या' (1945) और 'पार्टी कामरेड' (1946) उल्लेखनीय है। "देशद्रोही में भारतीय साम्यवादी आन्दोलन की सार्थकता और कांग्रेस पार्टी के वर्गचरित्र के अंतर्विरोध को अतिरिक्त उत्साह के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें सन् तीस से बयालीस तक की राजनीतिक स्थितियों का अंकन किया गया

है, जिसमें उपन्यास के प्रमुख पात्र अपने समय के राजनीतिक प्रश्नों से जूझते हैं। पर यह टकराहट पात्रों की लम्बी-लम्बी बहसों के रूप में होने के कारण अनाकर्षक हो गई है"[3] पार्टी कामरेड में कम्युनिष्ट पार्टी की विचारधारा का समर्थन दिखाया गया है इस उपन्यास में कम्युनिष्ट पार्टी मुस्लिम लीग की पाकिस्तान मांग का भी समर्थन करते हुए दिखाया गया है। 'दिव्या' को यशपाल ने ऐतिहासिक कल्पना की संज्ञा दी है। इस उपन्यास में ई. पू. दूसरी शताब्दी में यवन के शासक मिलिंद के बाद का शासन काल है।

प्रेमचंदोत्तर युग में कुछ उपन्यास ऐसे लिखे गए हैं जिनमें मुस्लिम मानस की उपस्थिति दर्ज हुई है। सन् 1937 ई. में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह (ज. 1890) ने राम रहीम उपन्यास लिखा था। औपन्यासिक दृष्टिकोण से इस रचना की कोई खास विशेषता नहीं है इसके बावजूद साम्प्रदायिक सद्भावना की दृष्टि से यह उल्लेखनीय हो जाता है। इसके अतिरिक्त राजा साहब की कई और रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, 'नव जीवन वा प्रेमलहरी' (1912), 'तरंग' (1921) कुछ अन्य उपन्यास है - सावनी समां' (1938), 'पुरुष और नारी' (1939), 'टूटा तारा' (1941), 'सूरदास' (1943), 'संस्कार' (1951), 'पूरब और पश्चिम' (1951), 'चुम्बन और चांटा' (1957), 'माया मिली न राम' (1963) तथा 'अपनी नज़र: अपनी अपनी डगर' (1964)।

राजा राधिकारमण प्रताप सिंह प्रेमचंद युग के राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित लेखक थे। उन्होंने अपने उपन्यास 'राम-रहीम' में हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ाने का विजन लेकर कहानी को गढ़ा है। उपन्यास में एक हिन्दू लड़की का विवाह मुस्लिम प्रेमी से होता है और यह तर्क दिया जाता है कि राम-रहीम दोनों एक ही हैं। उनका मानना है कि मुसलमान से विवाह करने पर न राम छूटते हैं और न हिन्दू से विवाह करने पर रहीम। लेखक यहाँ साफ़ स्पष्ट करता है कि व्यक्ति के सोचने का नजरिया अलग हो सकता है, उनका धर्म अलग हो सकता है, परन्तु अगर वह मानवीय धरातल पर आकर सोचे तो पता चलता है कि भले ही दोनों के रास्ते अलग हो सकते हैं परन्तु मंजिल एक ही है- "राम रहीम राजा साहब का सर्वाधिक उल्लेखनीय उपन्यास है, जिसके

वक्तव्य के अनुसार लेखक का उद्देश्य 'धर्म' और समाज के तमाम कच्चे चिठ्ठे तथा 'भारतीय जीवन' के 'आचार' अत्याचार, विचार और पुकार को यथार्थवादी ढंग से उजागर करना है। इसके साथ ही अध्यातम, श्रृंगार, दर्शन, नैतिकता, आदर्शवाद के छींटे भी उपलब्ध कराना उसका उद्देश्य है"[4]

सन् 1946 ई. में वृन्दावन लाल वर्मा द्वारा प्रकाशित 'झांसी की रानी' प्रेमचंदोत्तर युग का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है। अंग्रेजों के समय का भारतीय इतिहास पर केन्द्रित यह उपन्यास राष्ट्र भक्ति परक एवं नारी के सम्मान में लिखा गया था। उपन्यास में सन् 1857 के विद्रोह का चित्रण है। जिसमें रानी लक्ष्मी बाई की कथा का सहारा लिया गया है। ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने वाली वीरांगना लक्ष्मी बाई की वीरता की कथा इसमें समाहित है। ऐतिहासिक पात्रों का अच्छा चित्रण कर वर्मा जी ने अपनी काल्पनिक शक्ति के साथ-साथ राष्ट्रवादी एवं मानवीय गुणों का परिचय दिया है। वर्मा जी साम्प्रदायिक सौहार्द का समर्थन हमेशा से करते रहे हैं। उन्होंने 'रानी लक्ष्मी बाई' उपन्यास में भी धर्म का अच्छा उदाहरण पेश किया है। उन्होंने उपन्यास में हिन्दू मुसलमान सभी धर्मों के लोगों को एक साथ लाकर अपने साम्प्रदायिक विजन को सुस्पष्ट किया है। एक प्रभुत्ता संपन्न शक्तिशाली राष्ट्र की संकल्पना जिसमें हिन्दू-मुसलमान सभी धर्मों के लोगों का साझा हो, वर्मा जी के विजन की पहचान है। वर्मा जी का उदार साम्प्रदायिक दृष्टिकोण 'झाँसी की रानी' में भी मुखरित हुआ है।

सन् 1946 में रामचंद्र तिवारी ने 'सागर सरित और अकाल' उपन्यास लिखा था। यह उपन्यास सन् 1943 ई. के बंगाल के आकाल पर आधारित है। उपन्यास में लेखक ने यह दिखाया है कि अकाल के समय लोगों की स्थिति बहुत दयनीय होती है। इस स्थिति में लोगों को सद्भाव एवं संवेदना की ज़रूरत पड़ती है। परन्तु इस अवस्था में भी स्वार्थी व्यक्ति अपना स्वार्थ दिखा देता है। लेखक ने उपन्यास में ऐसे स्वार्थी, कामुक और दुराचारी व्यक्ति का भी चित्रण किया है। साथ ही ऐसे सज्जन व्यक्तियों का भी चित्रण किया है जो आपदा के समय समर्पण, सेवा आदि

भाव का परिचय देता है। लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि आकाल प्राकृतिक आपदा तो थी ही साथ ही इस आपदा को और नारकीय बनाने का काम मिल मालिकों, महाजनों, सरकारी कर्मचारियों आदि ने किया था।

उपन्यास की विशेषता यह रही कि लेखक ने एक तरफ कथा में अकाल और उसकी त्रासदी एवं स्वार्थ लोलुपता की विडंबना को दिखाया है वहीं दूसरी तरफ कथा संसार में मानवीय-मूल्यों को उजागर करते हुए उसे और मार्मिक एवं संवेदनशील बनाने हेतु मुस्लिम परिवार के प्रसंग को भी समावेश किया है। इस प्रसंग ने कथा को और जिवंत किया, उसमें व्यापकता एवं उत्कृष्टता आ गई है। पूरे उपन्यास में लेखक की सामाजिक दृष्टि व्यापक गहनता के साथ उभरी है। मुस्लिम परिवार को कथा में अंकित करना यह दर्शाता है कि हिन्दू-मुस्लिम सामप्रदायिक सौहार्द के हिमायती भी बड़े पैमाने पर उस समय में भी था जिस समय दोनों समुदाय अपने धर्म को लेकर बेहद उग्र हो चुके थे।

सन् 1941 में वासंती रानी सेन ने 'दिलारा' उपन्यास की रचना की थी। इस उपन्यास में भी सेन ने मुस्लिम अस्मिता के प्रश्न एवं हिन्दू-मुस्लिम के रिश्ते को दुरुस्त करने का प्रयास किया है। दोनों समुदायों में एकता किस प्रकार हो, उसमें क्या समस्या है? उन तमाम चीजों को कथा में समावेश किया है। लेखिका ने कथा में हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों को दुरुस्त करने के अलावा कथा में स्त्री समस्या को भी दिखाया है। स्त्री अपहरण एवं उसकी क्रय-विक्रय की समस्या को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

सन् 1947 ई. में रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के दो प्रसिद्ध उपन्यास प्रकाशित हुए थे, 'उल्का' और 'नई ईमारत'। 'उल्का' में प्रेम सम्बन्धी एवं नारी स्वतंत्रता आदि की बात कही गई है लेखक का मानना है कि स्त्री की पराधीनता का एक मुख्य कारण उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता का न होना होता है।

'नई ईमारत' में साम्प्रदायिकता की समस्या को केंद्र में रखते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन सन् 1942 की कथावस्तु को लेकर उपन्यासकार ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया है। साम्प्रदायिकता की समस्या के मूल में राजनीति का होना कोई आश्चर्य जनक बात नहीं। साम्प्रदायिकता एक ऐसी बला है जिसके जद में हमेशा निर्धनों, मजलूमों को आना पड़ता है। साम्प्रदायिकता की समस्या और आपसी फूट दोनों साम्राज्यवाद की उपज है। अंग्रेज अपने शासन काल में हिन्दू-मुसलमानों को आपस में लड़ाने हेतु साम्प्रदायिकता का सहारा लेता था। 'फूट डालो राज करो' की नीति में साम्प्रदायिकता उनका प्रमुख अस्त्र था। 'तमस' उपन्यास में भी इस नीति का परिणाम देखने को मिलता है। बहरहाल लेखक ने इन तमाम समस्याओं को 'नई ईमारत' में अपने अंदाज में प्रस्तुत किया है।

'नई ईमारत' में कथाकार ने कथा की विषय वस्तु को न केवल सन् 1942 के आन्दोलन के इर्द गिर्द रखा है बल्कि साम्प्रदायिक सद्भाव स्थापित करने हेतु आरती और महमूद बलराज और शमीम के प्रणय प्रसंग को कथा का केंद्रबिंदु बनाया है। उपन्यास का पात्र शीला कहती है "आरती की शादी महमूद के साथ करके आप देश के सामने राष्ट्रीयता का पवित्र आदर्श रखेंगे। जो सुनेगा आपकी अखंड मानवता के सामने सम्मान और संभ्रम से नत हो जाएगा"[5] हिन्दू-मुसलमान के बीच की जो साम्प्रदायिक समस्याएँ हैं वह राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता का बाधक है। मेरे ख्याल से इस समस्या का निवारण अंतर्धर्मीय विवाह हो सकता है परन्तु हमारा समाज अभी उतना बैद्धिक नहीं हुआ है जो इस कदम की सराहना कर सकें। परन्तु लेखक का यहाँ विजन साफ़ झलकता है कि वह इस अंतर-धार्मिक विवाह के समर्थक हैं। लेखक ऐसे धर्म की भर्त्सना करते हैं जो मनुष्य को मानवता के दायरे से खींचकर उसे धर्म की कठपुतली बना देता है। जिसे हिन्दू-मुस्लिम, सिख-ईसाई में बाँट देता है। यह धर्म ही है जो अलग-अलग संप्रदाय को एक-दूसरे से अलग करता है जिससे साम्प्रदायिकता जैसी समस्या उत्पन्न होती है। उपन्यास का पात्र महमूद धर्म के इस स्वरूप की निंदा करता है। वह अपना विचार व्यक्त करता हुए कहता है

कि "इंसान में भेदभाव पैदा करने वाले धर्म का अब खात्मा होना चाहिए। गुजरे ज़माने में उसने फायदा पहुँचाया होगा। अब वह मुर्दा हो चुका है हमें उसे गाड़ देना चाहिए थोड़े से आँसू बहाकर ही सही तभी सच्चे, श्रेष्ठ और स्थिर मानव-मन को वह पावन स्पर्श मिलेगा जो मनुष्यता पर उसके खोए विश्वाश को जागृत करे।"[6]

संदर्भ सूची:

1. रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यास: एक अंतर्यात्रा, पृष्ठ-75
2. वही, पृष्ठ-76
3. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-183
4. वही, पृष्ठ-174
5. रामेश्वर शुक्ल ‘अंचल’, नई ईमारत, पृष्ठ-56
6. वही, पृष्ठ-33

1.4 स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास

स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज एक बड़े बदलाव से गुजरता दिखाई देता है। स्वतंत्रता, विभाजन और साम्प्रदायिकता भारतीय समाज को आंतरिक रूप से परिवर्तित करता है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के दौर ने भारतीय जनमानस को अंदर से तोड़ दिया। भारतीय राजनीति से जनता का मोहभंग होता दिखाई देता है। निश्चित रूप से ऐसे समय में साहित्यिक परिवर्तन की दिशा में बदलाव देखने को मिलता है। इस संदर्भ में कमलेश्वर लिखते हैं कि - "विभाजन में कत्ल, बलात्कार और अत्याचार ही नहीं हुए थे बल्कि ऊपर से साबुत दिखाई पड़ने वाला आदमी भी भीतर से पूरी तरह से चटक गया था और उसके सारे विश्वास और मूल्य बर्बरता की आंधी में उड़ गये थे। अपंग, कटे-फटे और रक्तस्नात आदमियों के काफिले तो दोनों ओर से आये और गये ही थे पर एक भीषण और उससे भी ज्यादा भयानक रक्तपात आदमी के भीतर हुआ था। दोनों देशों में तो कई लाख आदमी मरे थे, पर जिस आदमी ने इस रक्तपात को झेला और भोगा था, उसके भीतर सदियों में बने और करोड़ों जिंदगियों द्वारा बनाएं गये विश्वास का विध्वंस हुआ था। इसलिए देश की सीमाएं पार करने वाले शरणार्थियों से ज्यादा शरणार्थी वे थे जिनके मानवीय-मूल्यों की हत्या हो गई थी।"[1] आजादी के बाद विभाजन की त्रासदी विश्व इतिहास के क्रूरतम कृत्यों में से एक है। इस कारण तत्कालीन साहित्य में विभाजन की त्रासदी को रेखांकित किया गया है। इस दौर के कई लेखक ऐसे थे जिन्होंने स्वयं देश विभाजन को झेला था। अपनों को खोने का दुःख, विस्थापन की त्रासदी तथा जीवन की अस्थिरता को सिर्फ नियति नहीं माना जा सकता था। इसके पीछे के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कारणों की पड़ताल साहित्य में कहीं न कहीं दर्ज है।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में ऐतिहासिक तथ्यों का बड़े पैमाने पर व्यवहार किया गया है। उपन्यासों में राजनीतिक नेताओं का नाम भी आता है लेकिन उन्हें औपन्यासिक पात्र माना गया। इस संदर्भ में यशपाल लिखते हैं कि - "झूठा-सच के दोनों भागों वतन और देश तथा देश का

भविष्य में देश के समसामयिक और राजनीतिक वातावरण को यथा संभव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित करने का यत्न किया गया है। उपन्यास के वातावरण को ऐतिहासिक यथार्थ का रूप देने और विश्वसनीय बना सकने के लिए कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम ही आ गये हैं परंतु उपन्यास में वे ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, उपन्यास के पात्र हैं।"[2] इस दौर में हिंदू-मुस्लिम संबंधों पर लिखे उपन्यासों में मुख्य रूप से साम्प्रदायिक दंगे, विस्थापन तथा विभाजित मनोभावों को दर्शाने की कोशिश की गई है। इस संदर्भ में ऐसे कई महत्वपूर्ण उपन्यास हैं जिनकी चर्चा की जा सकती है। विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित 'निशिकांत' उपन्यास में स्वतंत्रता पूर्व (1820 ई.) से लेकर बाद तक (1939ई.) तक के घटनाक्रम को चित्रित करने की कोशिश दिखाई देती है। उपन्यास में हिंदू-मुस्लिम धर्मों की कट्टरता को बेहतर तरीके से दिखाया गया है। इन दोनों धर्मों के बीच विभाजन की प्रक्रिया कभी खत्म ही नहीं हुयी थी। यहाँ पर लेखक ने दंगों से ही उपन्यास का आरंभ किया है। इसमें मंदिर-मस्जिद की लड़ाई के क्रम में जलते मनुष्य और संवेदनाओं के आख्यान को व्यक्त करने की कोशिश की गई है। कहानी का नायक निशिकांत दंगों के बाद जब अपने ऑफिस पहुँचता है तो देखता है कि सब कुछ बदल चुका है। वह अनुभव करता है कि - "काम करने वालों का मन मर चुका था। वे अब क्लर्क नहीं रहे थे। उनके अंदर के हिंदू-मुसलमान जाग उठे थे।"[3] यह उपन्यास धार्मिक कट्टरता के नुकसान को रेखांकित करता है। किस तरह एक-दूसरे के प्रति नफरत भरकर भारतीय समाज मनुष्यता खोता चला जा रहा है इसका सजीव चित्रण किया गया है।

इसी तरह की संवेदना को विस्तार देते हुए रामानंद सागर का उपन्यास 'और इंसान मर गया' (1948) महत्वपूर्ण है। विभाजन के बाद होने वाले दंगो की त्रासदी ने सबसे अधिक पंजाब और लाहौर को प्रभावित किया। यहाँ लाहौर के जनजीवन को साम्प्रदायिकता से प्रभावित दिखाया गया है। इस संदर्भ में रमाकांत राय ने कहा है कि - "इस उपन्यास में साम्प्रदायिकता के मूल उत्स को पहचानने की कोशिश की गई है एवं अपनी सुरक्षा के लिए अभिजात्य वर्ग के

लोगों के द्वारा अपनाए जाने वाले हथकण्डों की ओर इशारा किया गया है। रामानंद सागर ने अराजक नौजवानों द्वारा तांगेवाले को जला दिये जाने की घटना के माध्यम से यह दिखाने की कोशिश की है कि इन दंगों से वह वर्ग अधिक प्रभावित होता है जिनका उन विवादों से कुछ लेना देना नहीं होता, जो धर्म एवं मजहब को मानवता के आड़े नहीं आने देता।"[4] यह उपन्यास दंगों का वर्गीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है। दंगों और साम्प्रदायिकता की चोट जितना निम्नवर्ग को प्रभावित करती है उतना उच्चवर्ग को नहीं।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव द्वारा रचित बयालीस (1948 ई.) उपन्यास भारत छोड़ों आंदोलन की पृष्ठभूमि पर आधारित है। उपन्यास में लेखक ने रमईपुर गाँव में हिंदू-मुस्लिम संबंध को दिखाया है। इस उपन्यास से एक बात स्पष्ट होती है कि राजनीतिक स्तर पर विभाजन के लिए चल रही चर्चाओं से रमईपुर गाँव इस संवेदना से अछूता दिखाई देता है। अपने नीजि स्वार्थ के लिए कुछ अराजक तत्व दोनों कौमों में एक-दूसरे के प्रति नफरत भरने की कोशिश करते दिखाई देते हैं। उपन्यास में कई जगह हिंदू-मुस्लिम एकता का साक्ष्य मिलता है। बलवंत सिंह द्वारा रचित 'काले कोस' (1957) उपन्यास भी इसी तरह की संवेदना को अपने भीतर समाहित किये हुए हैं। इस उपन्यास का केंद्र चारगाँव है। सामाजिक स्तर पर यहाँ के निवासियों में धार्मिक एवं साम्प्रदायिक सद्भाव कायम है। खासतौर पर हिंदू-मुस्लिम एकता को बड़े संवेदनशील तरीके से चित्रित किया गया है। हिन्दुओं के द्वारा गाँव छोड़े जाने के क्रम में लेखक लिखते हैं कि - "हिंदू-सिक्ख, पुरुष-स्त्रियाँ, बच्चे-बूढ़े खानाबदोशों की तरह बाहर निकले और खेतों में जमा हो गये। मुसलमान फूट-फूट कर रो रहे थे।"[5] उपन्यास में मानवीय संवेदना धार्मिक कट्टरता पर भारी पड़ जाती है।

इस क्रम में यशपाल द्वारा रचित झूठा सच (1958) एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। दो खण्डों में विभाजित इस उपन्यास का फलक बहुत विस्तृत है। पहले खंड में 1946 से 48 तक के कालखंड का वर्णन है। दूसरे खंड में आजादी के दस वर्ष पश्चात् तक के त्रासद समय को समेटा

गया है। देश विभाजन की त्रासदी को झेलते हुए लोगों की कहानी कहने के साथ-साथ यह उपन्यास विस्थापित होते मानवीय-मूल्यों की कथा है। स्वतंत्र और स्वालंबित बनने के क्रम में भारत देश में होने वाले मूलभूत मानवीय-मूल्यों के बदलाव, बदलते स्त्री-पुरुष संबंधों तथा सामाजिक बदलाव को लेखक ने बड़ी ही बारीकी से रेखांकित किया है। एक शिक्षित स्त्री के जीवन की विडंबना उसके सपने और आकांक्षाओं को पितृसत्तात्मक समाज किस तरह से नष्ट कर देता है। उसके खुद के निर्णय धार्मिक कट्टरता की बलि चढ़ जाते हैं।

'सती मैया का चौरा' उपन्यास भैरव प्रसाद गुप्त द्वारा रचित उपन्यास है। मन्ने और मुन्नी की दोस्ती के माध्यम से हिंदू-मुस्लिम एकता का परिचय दिया है। इन किशोरों की दोस्ती के बीच धर्म का अंतर था जिसको इन्होंने पाट दिया था। उपन्यास में दोनों की दोस्ती के माध्यम से साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने की कोशिश दिखाई देती है।

संदर्भ सूची:

1. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका, पृष्ठ-59
2. यशपाल, झूठा-सच, पृष्ठ-आवश्यक
3. विष्णु प्रभाकर, निशिकांत, पृष्ठ-11
4. रमाकांत राय, हिंदू-मुस्लिम रिश्ते के बहाने राही के उपन्यास, पृष्ठ-89
5. बलवंत सिंह, काले कोस, पृष्ठ-298

1.5 साठोत्तरी उपन्यास

हिंदी साहित्य के इतिहास में साठ के बाद का दशक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। साठोत्तरी कथा साहित्य समाज की मान्यताओं एवं परंपराओं के प्रति मोहभंग प्रकट करती हैं। तत्कालीन सामाजिक जीवन के प्रति निराशा, कुंठा तथा असंतोष का भाव दिखाई देता है। साठ के बाद हिंदी उपन्यासों के क्षेत्र में मुस्लिम रचनाकारों का आगमन बड़े पैमाने पर दिखाई देता है। यह वह समय है जब मुस्लिम समाज की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को साहित्य में प्रमाणिक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। 1961 में कमलेश्वर द्वारा रचित 'लौटे हुए मुसाफिर' उपन्यास प्रकाशित होता है। इस छोटे से उपन्यास में लेखक ने आजादी के कुछ समय पहले से लेकर बाद तक की कहानी कही है। उपन्यास की नायिका नसीबन है जो विधवा स्त्री है। उपन्यास में जिस गाँव की कहानी कही गई है वह भारत के सामान्य गाँवों जैसा है जिसके विषय में कमलेश्वर लिखते हैं कि - "जब हिन्दुओं की बस्ती से ताजिए गुजरते थे तो, उन पर लोग गुलाब जल छिड़कते थे और हिंदू औरतें अपने बच्चों को गोदी में उठाए ताजियों से गुजरती थीं और दौड़-दौड़कर फेंके हुए मखाने बीनकर श्रद्धा से आँचल के खूट में बांध लेती थीं। जब रामलीला का विमान उठता था तो मुसलमान औरतें दरवाजें की चिकें या बोरी के पर्दे उलटकर मूर्तियों के श्रृंगार की तारीफ करती थीं और उनके बच्चें विमान के साथ दूर तक शोर मचाते हुए जाया करते थे- बोलो राजा रामचंद्र की जै।"[1] आजादी के पूर्व इस तरह की स्थिति अधिकांश भारतीय गाँवों की थी। समय बीतने के साथ विभाजन की मानसिकता ने पैर पसारना शुरू किया।

1945 के बाद जिस तरह से राजनीतिक शक्तियों के प्रभाव में परिस्थितियाँ बदलती हैं उसके परिणाम दूरगामी थे। मुस्लिम पात्रों तथा मुस्लिम बस्ती के माध्यम से कमलेश्वर इस समाज में नये भारत के प्रति विकसित हो रही समझ का विश्लेषण करते हैं। नसीबन अशिक्षित जरूर है लेकिन वह यह जानती थी कि गाँव से सुंदर पाकिस्तान नहीं हो सकता है। उसे पाकिस्तान बनने न बनने से फर्क नहीं पड़ता है। बहुत लोग पाकिस्तान जाने के लिए निकल पड़ते हैं। इस क्रम में

साई, इफ्तिकार, तांगेवाला और नसीबन बच जाते हैं। सलमा के विरह में सत्तार आत्महत्या कर लेता है। कुछ वर्षों के बाद गाँव में फिर से कुछ लोग वापस आते हैं। यह वही लोग हैं जिनके माता-पिता पाकिस्तान जाने के लिए निकल गये थे। उसमें से अधिकांशतः पाकिस्तान पहुँच ही नहीं सके। उन्हीं की संतानों के वापस गाँव लौट आने से नसीबन यह सोच कर खुश होती है कि मुसाफिर लौट आये हैं। उपन्यास में कमलेश्वर ने एक बस्ती को केंद्र में रखकर आम व्यक्तियों के सहारे साम्प्रदायिक तनाव, अलगाव तथा विभाजन की त्रासदी का चित्रण किया है। इस उपन्यास में लेखक की कथा के केंद्र में मुस्लिम बस्ती है और यहाँ पात्र भी मुसलमान है। कमलेश्वर इस क्रम में एक महत्वपूर्ण रचनाकार बनकर उभरते हैं। उन्होंने मुसलमान पात्रों तथा मुस्लिम बस्ती के माध्यम से इस धर्म विशेष के लोगों के मन में झांकने की कोशिश की है। कुल मिलाकर आजादी के बाद के भारतीय समाज की समस्याओं को कथा फलक पर उजागर करने की कोशिश करते दिखाई देते हैं।

सन् 1967 में प्रकाशित शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखा उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' काफी महत्वपूर्ण है। यह लेखक का पहला उपन्यास है। यहाँ कैराता गाँव के माध्यम से पूर्वांचल की कहानी कहने की कोशिश की गई है। इस उपन्यास में लेखक ने आजादी के बीस वर्ष बाद के टूटते और बिखरते जीवन की दारूण कथा को बयान किया है। इस उपन्यास में लेखक कहते हैं कि "अलग-अलग वैतरणी स्वतंत्रता के बाद के बीस वर्षों की, यानी दो दशक की उस दारूण कथा को आपके सामने लाता है, जहाँ गाँव का पूरा कलेवर जर्जर होकर टूट-टूटकर बिखर रहा है। सारे रिश्ते-नाते खत्म हो गये हैं, वे संबंध खंडित हो गये, जहाँ अब हर इंसान अपनी-अपनी वैतरणी में डूबने उतरने का अभिशाप लिए गाँव की वृहत् वैतरणी को अपनी स्याह ज़िंदगी से ढकता चला आ रहा है।"[2] इस गाँव के लोग त्रस्त हैं। विस्थापन के अलावा कोई चारा नहीं है। अपनी घुटी हुयी ज़िंदगी से मुक्ति की तलाश में लोग शहर की ओर पलायन करते दिखाई देतें हैं। हिंदू-मुस्लिम पात्र इस गाँव की एकता, अखंडता और संम्प्रभुता को साकार करते दिखाई देतें हैं।

विपिन इस उपन्यास का नायक है। यह चरित्र शिक्षित, आदर्शवान तथा एक महाविद्यालय का शिक्षक भी है। उपन्यास के मुस्लिम पात्र खलील चाचा एक महत्वपूर्ण पात्र हैं। लेखक ने उनके व्यक्तित्व को विस्तार प्रदान किया है। साझी संस्कृति और उदार भाव से परिपूर्ण खलील चाचा एक मिसाल के रूप में स्थापित हैं। उनकी आस्था में हिंदू और मुस्लिम संस्कृति का मिलाजुला भाव परिलक्षित होता है। अपनी मातृभूमि के प्रति लगाव जीवन के अंतिम क्षणों में उन्हें पाकिस्तान जाने से रोक देता है। उसका बेटा बदरूल पाकिस्तान चला जाता है। वह चाहता है कि उसके पिता भी उसके साथ आ जाएं। वह अपने पिता को अपने पास आने का प्रस्ताव भेजता है। अपने बेटे के चले जाने का दर्द झेलने के बावजूद वे उसके पास जाने से इंनकार कर देते हैं। वे विपिन से कहते हैं कि - "मैंने लिख दिया बेटे कि तुम्हारे पाकिस्तान पर मैं लानत भेजता हूँ साले तू दोगला है। काफिरों के बीच अपनी दर्जनों पुश्तें गल गई, आज तक ऊपर खुदा गवाह है बेटे, मैंने कभी हिंदू और मुसलमान में फर्क नहीं किया। मैंने दशमी नहीं मनाई कि दिवाली के दीये नहीं जलाए? तुमने तो देखा ही है कि होली के दिन मेरे सहन में जाजिम बिछ जाती और क्या छोटा क्या बड़ा? सब इक्ठ्ठे होते।"[3] खलील मियाँ के भीतर वतन के प्रति बहुत प्रेम था लेकिन आजादी के बाद भारतीय मुसलमानों के साथ जिस प्रकार की ज्यादती हुयी उससे खलील जैसे लाखों मुसलमानों को बहुत निराश और हताश का शिकार होना पड़ा। इनके लिए कोई रास्ता बाकी नहीं रहा। सिर्फ वह कट्टरता को स्वीकार कर सकते थे। खलील को उपद्रवियों के गुट ने बहुत परेशान किया। अंततः उन्हें गाँव छोड़कर जाना पड़ा। गाँव छोड़कर जाने वाली स्थिति बहुत मार्मिक है। मिसिर को वह बहुत पसंद करते हैं लेकिन जाते वक्त उससे नज़रें नहीं मिला पाते। वह झूठ बोलकर ससुराल के बहाने जमनिया जाना चाहते हैं। वह पाकिस्तान नहीं जा पाते और गाँव में भी नहीं रह पाते हैं। एक अजीब-सी विडंबनापूर्ण स्थिति की अभिव्यक्ति इस उपन्यास में दिखाई देती हैं जो देश के बंटवारे को नहीं वरन् दिलों के बंटवारे की पीड़ा को व्यक्त करती है। जग्गन मिसिर जब खलील मियाँ से यह सवाल करते हैं कि इस बार तो ससुराल ज्यादा दिन नहीं रहना है तो

खलील मियाँ लाचार हो जाते हैं "खलील मियाँ का चेहरा जैसे बुझ गया हो। वे एक क्षण मिसिर की ओर देखते रहे। फिर उन्होंने आँखें फेर ली। वे सच कहना नहीं चाहते थे, झूठ बोलना नहीं चाहते थे। इस खींचातानी में उनकी आँखें चिलक उठी थीं। मिसिर कहीं यह सब देख ना ले इसलिए उन्होंने गर्दन झुका ली।"[4] इस तरह यह उपन्यास गहन मानवीय संबंधों के माध्यम से भारतीय जीवन-मूल्य में और आस्था पैदा कर देता है। जितनी भी मुश्किलें आएं अलगाववादी ताकतों का जितना दबाव बढ़ेगा भारतीय परिप्रेक्ष्य में मानवता और अधिक मजबूत होती दिखाई देती है।

साठोत्तरी उपन्यासों में साम्प्रदायिकता को केंद्र में रखकर लिखे जाने वाले उपन्यासों में 'तमस' का नाम महत्वपूर्ण है। साम्प्रदायिकता को केंद्र में रखकर लिखा जाने वाला यह उपन्यास अपने समय की सनद है। भीष्म साहनी एक प्रगतिशील कथाकार थे। उन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों में साम्प्रदायिकता के ज़हर को बखूबी उजागर किया है। शिवकुमार मिश्र ने इस संदर्भ में लिखा है कि - "भीष्म जी हिंदी के उन थोड़े से प्रतिबद्ध कथाकारों में हैं, जिन्होंने साम्प्रदायिकता जैसी मनोवृत्ति के खिलाफ, जिसका संबंध बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता से हो या अल्पसंख्यक, अपनी आवाज बुलंद की है तथा राष्ट्रीय अखंड भारत, भाईचारे तथा आजादी जैसे मूल्यों के पक्ष में अपने को प्रस्तुत किया है।"[5] उपन्यास का शीर्षक तमस व्यक्ति और समाज के जीवन में आये अंधकार को व्यक्त करता है। इस उपन्यास में लेखक ने उन शक्तियों का चित्रण किया है जो निजी स्वार्थ हेतु उन्माद फैलाते हैं। देश विभाजन और साम्प्रदायिक सौहार्द के सामंजस्य को तहस नहस करने वाले असामाजिक तत्वों का समर्थन करने वाली राजनीतिक ताकतों के चरित्र को उजागर किया गया है। भीष्म साहनी ने प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों को दोषी ठहराते हुए कहा है कि - "सन् 1942 के देशव्यापी भारत छोड़ों आंदोलन के बाद स्वतंत्रता संघर्ष की रीढ़ तोड़ने का यह षड्यंत्र था और अंग्रेजों के हाथ में साम्प्रदायिकता का हथियार ही सबसे बड़ा हथियार था।"[6] इस उपन्यास में अंग्रेजों का प्रतिनिधित्व करने वाले रिचर्ड जैसे चरित्र के कहने पर मुराद अली नत्थू से

कह कर सूअर मरवाकर मस्जिद के बाहर फेंक देता है। इसी कारण से शहर से होते हुए गाँव तक दंगों की आग फैल जाती हैं। जब दंगा शांत हो जाता है तब रिलीफ कैम्प भी अंग्रेज लगवाता है। भीष्म साहनी इन सामाजिक बारिकीयों को रेखांकित करते हैं। इस क्रम में 'तमस' एक महत्वपूर्ण उपन्यास बनकर उभरता है। इसके अंतर्गत साम्राज्यवादी सरकारों तथा आर्थिक नीतियों के यथार्थ को उजागर कर दिया गया है। अंग्रेज यह जानते थे कि जबतक इन दोनों समुदायों में आपसी वैमनस्य रहेगा तब तक ब्रिटिश सरकार रहेगी। आजादी की लड़ाई के दौरान भारतीय समाज के सामने देश को साम्राज्यवादी शक्ति से मुक्त करवाना एकमात्र लक्ष्य था। समय बीतने के साथ अंग्रेजों के द्वारा तैयार की गई रणनीति के दुष्परिणामों के फलस्वरूप देश में कई विभाजित अस्मिताओं का जन्म होता है। ब्रिटिश सरकार ने ऐसा माहौल तैयार किया जिससे भारतीय समाज का आपसी सौहार्द धरा का धरा रह गया। सामाजिक परिवेश इस तरह बदला की पड़ोसी दुश्मन बन गये। अब वह अंग्रेजी शासन से लड़ने की बजाए आपस में लड़ रहे थे। इस संदर्भ में गोपाल राय लिखते हैं कि - "इस लड़ाई के शिकार सिर्फ हिंदू-मुसलमान नेता ही नहीं होते बल्कि फतेहचंद की टाल पर काम करने वाला मजदूर कश्मीरी होता है, गली गली दूध बेचने वाला मियाँ होता है, बूढ़ा हरिभजन सिंह होता है, इकबाल सिंह होता है और सैदपुर जैसे गाँव के लोग होते हैं, जहाँ पुरुष मारे जाते हैं और औरतें बच्चों को लेकर कूएं में कूद जाती हैं।"[7]

'तमस' उपन्यास विभाजन के पूर्व रावलपिंडी में हुए पाँच दिनों के दंगों को आधार बनाकर लिखा गया उपन्यास है, जिसमें तत्कालीन साम्प्रदायिक दंगे और उससे उपजी क्रूर मानसिकता का चित्रण हुआ है। लेखक को इस तरह का उपन्यास लिखने की प्रेरणा भिंडवी में हुए साम्प्रदायिक दंगों से हुयी। भिंडवी में हुयी आगजनी और दंगों का गहरा असर लेखक के ऊपर पड़ा जिसका उल्लेख वह अपनी आत्मकथा में करते हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं कि - "यह सचमुच अचानक ही हुआ, पर जब कलम उठाई और कागज सामने रखा तो ध्यान रावलपिंडी के दंगों की तरफ चला गया।"[8] इस उपन्यास की कथावस्तु दो खंडों में विभाजित है।

पहले खंड में कुल तेरह प्रकरण है। भारतीय समाज में गाय और सूअर की हत्या करके बेहद आसानी से दंगों को अंजाम दे दिया जाता है। ऐसा लगता है साम्प्रदायिकता का ज़हर फैलाना इतना आसान है कि लंबे समय से साथ रह रही जातियाँ भी एक-दूसरे के दुश्मन बन बैठती हैं। इस प्रकार पहले खंड में लेखक दंगों के आरंभ की कथा बुनते हैं। अपने किये गये अपराधों से अंजान इस खंड के पात्रों में केवल आत्मग्लानी का भाव है। नत्थू को नहीं पता कि जिन पाँच रुपयों के लिए वह सूअर की हत्या कर रहा है उसके मृत सूअर का क्या उपयोग होने वाला है। जबतक उसे पता चलता है तबतक बहुत देर हो चुकी होती है। वह कहता है कि - "मुझे मालूम होता तो मैं यह काम क्यों करता?"[9] और इस प्रकार प्रथम खंड का अंत होता है।

उपन्यास के दूसरे खंड में इलाहीबक्श, हरनाम सिंह और उनकी पत्नी आदि का पलायन शुरू होता है। शहर से होते हुए दंगों का प्रभाव गाँवों तक पहुँच जाता है। हरनाम सिंह और उनके जैसे सैकड़ों लोगों को दर-दर की ठोकरें खानी पड़ती हैं। इकबाल सिंह को जबरदस्ती इस्लाम कबूल करवाया जाता है और जसबीर जैसी अनेक औरतों को कूँए में कूदना पड़ता है। इस प्रकार इस उपन्यास में जितने भी पात्र हैं वह सभी जातियों और धर्मों से वास्ता रखते हैं। इस संदर्भ में रामदरश मिश्र जी लिखते हैं कि - "लेखक ने तत्कालीन साम्प्रदायिक विभीषिका और उसके क्रूर अमानवीय प्रभावों के यथार्थ को कलाकार की निस्संग दृष्टि से देखा और चित्रित किया है किन्तु उसकी मानवीय दृष्टि ने इस भयानक अराजकता और खूनी कोलाहल के बाद भी आदमी के वजूद को देखा है, उसने इंसानियत की धड़कन सुनी है - एक वर्ग के बीच भी और आदमी के बीच भी। .. जहाँ एक ही गाँव के बाशिंदा परस्पर लड़ रहे हैं, बहुसंख्यक अपने साथ सुख-दुख से जुड़े अल्पसंख्यकों का संहार कर रहे हैं, वहाँ कुछ अजनबी सहारा दे रहे हैं। हरनाम सिंह और बंतो अपने गाँव से भागने के लिए मजबूर कर दिये जाते हैं, उनकी दुकान फूंक दी जाती है लेकिन अपनी लीगी बेटे के भय के बावजूद राजों इन्हें शरण देती है इनकी रक्षा करती है और चुपके से आगे छोड़ आती है।"[10] इस तरह उपन्यास में ऐसे कई प्रसंग हैं जिसमें लेखक ने मानवीय-मूल्यों

की स्थापना की है। हिंदू-मुस्लिम ही नहीं वरन् विभिन्न धर्मों के बीच के आपसी सौहार्द को लेखक बखूबी दिखा पाते हैं। भीष्म साहनी का 'तमस' उपन्यास साम्प्रदायिक दंगों का यथार्थ और प्रमाणिक दस्तावेज है।

संदर्भ सूची:

1. कमलेश्वर, लौटे हुए मुसाफिर, पृष्ठ-2
2. शिवप्रसाद सिंह, अलग-अलग वैतरणी, पृष्ठ-तटस्थ
3. वही, पृष्ठ-121
4. वही, पृष्ठ- 8
5. शिवकुमार मिश्र, साम्प्रदायिकता और हिंदी उपन्यास, पृष्ठ-79
6. भीष्म साहनी, तमस, पृष्ठ-273
7. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-303
8. भीष्म साहनी, आज के अतीत, पृष्ठ-227
9. भीष्म साहनी, तमस, पृष्ठ-188
10. रामदरश मिश्र ,हिंदी उपन्यास: एक अंतर्यात्रा, पृष्ठ-168

1.6 समकालीन उपन्यास

उपन्यास साहित्य के विकास में सन् 1980 के बाद के उपन्यासों को समकालीन उपन्यास की संज्ञा दी गई है। इस दौर में मंजूर एहतशाम एक महत्वपूर्ण रचनाकार है। इनका उपन्यास 'सूखा बरगद' मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज की आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं को चित्रित करता है। इस उपन्यास में विभाजन के बाद भारत में रह गये मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच बनते-बिगड़ते संबंधों की पड़ताल की गई है। इस उपन्यास का केंद्रीय पात्र रशीदा है जिसके माध्यम से पूरी कथा का संचालन किया गया है। रशीदा के पिता वाहीद खान रूढ़ियों के खिलाफ आवाज उठाने तथा जड़ परंपराओं को तोड़ने में विश्वास रखते हैं। धार्मिक कर्मकांड और मिथ्या आडंबर से दूर रहने वाले वाहिद मियाँ अपने बच्चों में भी प्रगतिशील मूल्यों का विकास करना चाहते हैं। अपने बनाएं हुए मूल्यों के कारण उनके परिवार के लोग भी उनसे दूरी बना लेते हैं लेकिन वाहिद कभी भी कट्टर धार्मिक विचारों से समझौता नहीं करते हैं। उनका मानना है कि - "इंसान से बढ़कर कोई खुदा नहीं' सुहैल को समझाते हुए वह कहते हैं कि 'मजहब इनके लिए एक खास रब की इबादत करना, या एक खास तरह से जिंदा रहना ही नहीं, सबसे पहले तो एक धंधा है। बिल्कुल ऐसा ही समझ लो जैसे जूते बेचना।"[1]

'सूखा बरगद' उपन्यास में सूखा बरगद एक प्रतीक है। इसके माध्यम से लेखक भारतीय इतिहास में मौजूद सामासिक संस्कृति के प्रभावशाली रूप को उजागर करते हैं। दो संस्कृतियों के मिलने से जो होता है और जो हो सकता है उस पर विचार किया गया है। इस उपन्यास के विषय में गोपाल राय लिखते हैं कि - "सूखा बरगद प्रतीकात्मक शीर्षक है जो उपन्यास के केंद्रीय पात्र अब्दुल वाहीद खाँ को संकेतित करता है। अब्दुल वाहीद खाँ अर्थात अब्बू के रूप में उपन्यासकार ने एक ऐसे पात्र की सृष्टि की है जो धार्मिक संकीर्णताओं से मुक्त, उदार, राष्ट्रप्रेमी और मजहब पर इंसानियत को तरजीह देने वाला बुद्धिजीवी है। उसे ज़िंदगी भर कट्टरपंथियों से जूझना पड़ता है। पर सामाजिक और आर्थिक दबावों के सामने वह कभी घुटने नहीं टेकता।"[2]

अब्दुल वाहीद के संस्कार उनके बच्चों में आते हैं। उसकी बेटी रशीदा एक पढ़ी-लिखी आत्मनिर्भर युवती है। आजादी के बाद जिस तरह भारतीय समाज में शिक्षित स्त्रियों की भरमार दिखाई देती है रशीदा उसका प्रतीक है। अब्दुल वाहीद के दोनों बच्चों का प्रेम संबंध हिन्दुओं से स्थापित होता है। लेकिन सामाजिक विसंगतियों के कारण दोनों में से किसी का प्रेम सफल नहीं हो पाता है। उपन्यास आजादी के बाद होने वाले भीषण दंगे और उससे उपजी साम्प्रदायिकता तथा समाज में एक-दूसरे के प्रति पैदा होने वाले अविश्वास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है। भारतीय मुसलमानों के बीच भय का जो वातावरण निर्मित होता है वह रेखांकित करने योग्य है। सुहैल का साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का शिकार होना, मजहब को लेकर कट्टर होना एक प्रकार का मनोविज्ञान है। अपनी हिंदू प्रेमिका से विवाह न कर पाना उसे अपनी पहचान के प्रति और अधिक सचेत कर देता है। यह परिस्थितियाँ उसे मुसलमान होने का एहसास कराती है। जिससे वह कभी मुक्त नहीं हो पाता और लगातार कट्टर बनता चला जाता है। वह भीतर से अजनबीयत, अविश्वासी और बहुसंख्यकों के प्रति घृणा का भाव ही बचा पाता है। वैचारिक विचलन और संस्कारों और व्यवहार के बीच फंसा सुहैल एक विभाजित मनोवृत्ति का शिकार हो जाता है। इस उपन्यास ने इस विभाजन को चित्रित किया है।

1986 में अब्दुल बिस्मिल्लाह के द्वारा लिखा गया उपन्यास 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' बनारस के बुनकरों पर आधारित है। बुनकर वर्ग हाशिये का समाज है। मुस्लिम समाज के भीतर शोषण के तंत्र का चित्रण यहाँ मिलता है। उपन्यास में साम्प्रदायिकता, धार्मिक मतभेदों के साथ साथ वर्गीय विभेद का विश्लेषण भी करता है। आम बुनकरों का एक वर्ग है, सेठ और हाजी साहब जैसे लोगों का एक अलग वर्ग है जो बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँ के बुनकर दिन प्रति दिन मजदूर बनते चले जाते हैं। सेठ तरक्की की सीढ़ी चढ़ते चले जाते हैं। दिन रात मजदूरी करने के बावजूद कर्ज का बोझ कभी हल्का नहीं होता है। मतीन की पत्नी अलीमुन बनारसी साड़ी पहनने की अधूरी इच्छा के साथ मर जाती है। अलीमुन अपनी इच्छा जाहिर करते

हुए मतीन से कहती है कि "अबकी इदिया पर येही में की सड़िया हम्मै दियाय दो।"[3] मतीन यह जानते हैं कि अभी यह मुमकिन नहीं या कभी भी मुमकिन नहीं। अलीमुन अपनी ज़िंदगी के आखिरी दिन गिन रही होती है लेकिन उसका मन अभी भी उस बनारसी साड़ी को भुला नहीं पाता है। बुनकरों की आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण ना ही उनका परिवार अच्छा खा पाता है और ना ही अच्छा पहन सकता है। तंगी के कारण अलीमुन की अच्छी जाँच और दवाई के अभाव में मौत हो जाती है। उपन्यास में हाजी अमीरूल्ला जैसे सेठों का उल्लेख भी है। हाजी इन बुनकरों का हर तरह से शोषण करता है। इनको बुनकर से मजदूर बना देता है। इनकी बीनी हुई साड़ियों की कीमत बहुत कम कर देता है साथ ही उसमें अतिरिक्त कटौती भी करता है। इस उपन्यास में जिस व्यवस्था की बात की गई है वह शोषण के तंत्र को और अधिक मजबूत करती है। अब्दुल बिसमिल्लाह ने इन बुनकरों के बीच लगभग दस वर्षों का समय गुजारा था। उनके जीवन की विसंगतियों को काफी करीब से देखते हुए इस उपन्यास के ताने बाने को बुनते नज़र आते हैं। मतीन, अलीमुन और नन्हे इकबाल के द्वारा बुनकरों की दुनिया में दाखिल होते हैं। इस उपक्रम में शोषण पर आधारित पूरी अर्थव्यवस्था का पर्दा फाश किया गया है। जिसमें एक तरफ भ्रष्ट राजनीतिक तंत्र है और दूसरी तरफ सरकार की कल्याणकारी योजनाएं जिसका फायदा किसी को ठीक ढंग से नहीं मिल पाता है।

उपन्यास में एक तरफ आर्थिक अभावों और सेठों के शोषण के कारण बुनकरों की त्रस्त ज़िंदगी को दिखाया गया है। वहीं दूसरी तरफ सदियों से चली आ रही धार्मिक अंधविश्वास, तीन तलाक जैसी रूढ़ परंपराओं का चित्रण किया गया है। तीन तलाक जैसी परंपराओं के दुष्परिणामों को लेखक बड़ी ही शालीनता से चित्रण करते हैं। लड़कियों की शिक्षा के महत्व को लेखक उजागर करते हैं। भारतीय समाज आज भी स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं देता। लड़का और लड़की का फर्क हर जगह विद्यान है। लेखक ने यहाँ बिबिया की शिक्षा के माध्यम से यह बताने की कोशिश की है कि लड़के और लड़कियों को शिक्षा की बराबर आवश्यकता है। इस

संदर्भ में लेखक कहते हैं कि- "जब से बिबिया स्कूल जाने लगी है, उसके व्यवहार में अजीब सा परिवर्तन दिखाई पड़ रहा है। पहले तो वह घर की चूल्ही-हांडी में ही दिनभर फंसी रहती थी और बाहर निकलने का मौका ही नहीं मिलता था। जो थोड़ा-बहुत वक्त बचता भी था, उसमें, या तो बैठी-बैठी नरी भरा करती थी या कटान फेरा करती थी। बहुत छोटी सी उम्र से ही वह सब कुछ करने लगी थी और वह नहीं जानती थी कि दुनिया इसके आगे भी कहीं है। अब जाकर उसे मालूम हुआ है कि जिस धरती पर वह रहती है वह सूरज का एक टुकड़ा है और वह गोल है और वह सूरज के चारों ओर घूम रही है। इस मुल्क के ज्यादातर मुसलमान यहीं के बाशिंदे हैं और अंग्रेजों ने यहाँ के हिंदुओं और मुसलमानों दोनों पर हुकूमत की है। कबीरदास एक बहुत बड़ा कवि था और वह उसी की जाति का था और वह इसी बनारस में रहकर कपड़ा भी बुनता था और कविता भी लिखता था।"[4] इस तरह लेखक ने इस उपन्यास के जरिए भारतीय मुसलमानों की वर्गीय स्थिति को स्पष्ट करने की कोशिश की है। जिसके द्वारा गरीब मुसलमानों के जीवन की त्रासदी का सटीक चित्रण किया है।

'शहर में कर्फ्यू' समकालीन उपन्यासों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विभूति नारायण राय का यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें इलाहाबाद की सड़को पर हुए दंगों और उसके बाद कर्फ्यू की घटना का चित्रण है। इस उपन्यास का आरंभ कर्फ्यू से होता है - "शहर में कर्फ्यू अचानक नहीं लगा था , पिछले एक हफ्ते से शहर का वह भाग, जहाँ हर दूसरे तीसरे साल कर्फ्यू लग जाया करता है, इसके लिए जिस्मानी और मानसिक तौर पर अपने को तैयार कर रहा था।"[5] मानवीय संवेदनाओं के बीच धर्म की लकीरें जब खींच जाती हैं तो सामान्य जनता को काफी परेशानियों का सामना करना पड़ता है। दंगों को हमेशा से षड़यंत्रों के तहत फैलाया जाता है। "पूरा शहर जानता था कि जायसवाल और हाजी मिलकर चाहें तो दंगा हो जाएगा।"[6] लेखक ने इस उपन्यास में मुसलमानों के प्रति पैदा होने वाले विश्वास के भाव को चित्रित किया है। साथ ही इस समाज के बनने वाले मिथक को तोड़ने की कोशिश की है।

प्रमुख साठोत्तरी लेखिका के रूप में नासिरा शर्मा का नाम लिया जाता है। इनके लेखन का विस्तार समकालीन दौर तक देखा जा सकता है। इस युग में इनके दो प्रमुख उपन्यास प्रकाशित होते हैं। 'ठीकरे की मंगनी' 1989 में प्रकाशित होती है। इस उपन्यास की नायिका महरूख एक प्रेरणा है। उन सभी महिलाओं के लिए जो शिक्षित हैं और अपने लिए एक आत्मनिर्भर जीवन की तलाश कर रही है। रफत जैसे व्यक्ति के साथ सगायी होने के साथ उसकी ज़िंदगी बदल जाती है। रफत निहायत ही संवेदनहीन, लापरवाह, अवसरवादी और भौतिक सुखों के प्रति अकृष्ट होने वाला व्यक्ति है। जबकि महरूख के जीवन का लक्ष्य कुछ और ही है। सही समय पर अपने मंगेतर से अलग होकर महरूख अपने जीवन को दूसरों के लिए समर्पित कर देती है। इसी क्रम में 1994 में उनका उपन्यास 'जिंदा मुहावरे' प्रकाशित होता है। यह उपन्यास विभाजन की त्रासदी पर आधारित है। लेखिका इस उपन्यास में लिखती हैं कि - "आज यह बात अनुभव की जा रही है कि देश का बँटवारा मुसलमानों के लिए भी विनाशकारी ही था। यहाँ तक कि पाकिस्तान चले जाने वाले युवकों को भी वहाँ की आबादी ने हृदय से नहीं अपनाया। धर्मान्धता की तो जीत हुयी, पर मनुष्यता का हनन ही हो गया।"[7] इस उपन्यास में पाकिस्तान चले जाने वाले मुसलमानों की मानसिक दशा का चित्रण किया गया है। एक अजनबी शहर में विस्थापित मुसलमान अपने हिंदू दोस्तों को याद करते हैं। उनकी संवेदना लगातार भारत से जुड़ा करती हैं। अपने अतीत में जीते हुए भारत से पाकिस्तान गये मुसलमान कभी इससे मुक्त नहीं हो पाये। समकालीन दौर में नासिरा शर्मा का कथा साहित्य मुस्लिम समाज को एक नये ढंग से देखने की दृष्टि प्रदान करता है। जहाँ वह सिर्फ इंसान के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं।

साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत 'कितने पाकिस्तान' कमलेश्वर की सर्वोत्तम कृतियों में से एक है। कमलेश्वर ने इस उपन्यास को एक अलग शैली में नूतन प्रयोग के साथ लिखा है। यह मात्र उपन्यास न होकर उपन्यास के आवरण में 'मानवता के दरवाजे पर इतिहास और समय की एक दस्तक है..इस उम्मीद के साथ कि भारत ही नहीं, दुनिया भर में एक के बाद एक दूसरे पाकिस्तान

बनाने की लहू से लथपथ यह परंपरा अब ख़त्म हो'। इसमें इतिहास, पुराण, मिथक और यथार्थ के समय को लेकर वर्तमान समय तक की विवेचना हुई है। मुग़ल कालीन साम्राज्य, साम्प्रदायिक शक्तियों के बीज प्रस्फुटन और विभाजन की त्रासदी का विश्लेषण किया गया है। इसके साथ ही सभ्यता, संस्कृति, मूल्यों आदि का भी जिक्र हुआ है। धर्म, मजहब, सत्ता और नित्य नए पाकिस्तान का निर्माण और उससे मानवता का ह्रास किस प्रकार होता है लेखक ने इस पर गहन विचार किया है। "पकिस्तान से पाकिस्तान पैदा होता है...यह छूत का एक रोग है ! जब तक धर्म, नस्ल, जाति और दुनिया की पहली शक्ति बनने का नशा नहीं टूटता, जब तक सत्ता और वर्चस्व की हवस नहीं टूटती तब तक इस धरती पर पाकिस्तान बनाए जाने की नृशंस परंपरा जारी रहेगी"[8] धर्म पर टिप्पणी करते हुए अदीब कहता है "धर्म या मजहब जिन्दगी की सच्चाइयों से हमेशा सदियों पिछड़ा रहता है! और यही तमाम बेबुनियाद पकिस्तानों की बुनियाद बनता है"[9] अदीब ने मजहब को इन्सान से कमतर बताते हुए यह भी कहा कि "कोई मजहब इंसान से ऊपर नहीं है...पहले इंसान पैदा हुआ फिर मज़हब!"[10] मजहब के आधार पर बने पाकिस्तान एक कुतर्क था जिसे जिन्ना और लीगियों ने सफल किया था लेकिन सच तो ये है कि मजहब के आधार पर देश नहीं बाँटते अगर ऐसा होता तो सारे मुसलमान आज पाकिस्तान में होते। सलमा इस्लाम के ऐसे हिमायती को फटकारते हुए कहती है "मुसलमान और इस्लाम के नाम पर इन पाकिस्तानियों को बोलने का कोई हक़ नहीं है.. आज हिन्दुस्तान में पाकिस्तान से ज्यादा मुसलमान हैं और पाकिस्तान से ज्यादा इस्लाम को समझने वाले लोग हैं, तब इन पाकिस्तानियों को बोलने का हक़ कहाँ है?"[11] पूरे उपन्यास में अदीब और अर्दली के माध्यम से तमाम मुर्दों, इतिहासकारों एवं शासकों के मध्य आपसी वाद-विवादों के जरिए समय को एक बार फिर से नए सिरे से खंगालने की कोशिश की है। अदीब न्यायधीश के रूप में उपस्थिति रहकर सारे दस्तकों को सुनता है, उस पर विचार-विमर्श करता है। इसके साथ ही कुछ कहानियाँ भी चलती है जिससे धर्म, मजहब के कुसंस्कारों को उजागर किया जाता है। मजहब की कट्टरता को पेश करते हुए सलमा एक जगह

कहती है कि "सिर्फ जीने के लिए मैं हिन्दू बन जाऊँ और आप मुसलमान हो जाओ! क्योंकि मुसलमानों की ज़हनियत यह तो मंजूर कर सकती है कि कोई मुसलमान मर्द हिन्दू औरत को ब्याह ले, पर कोई हिन्दू मर्द मुसलमान औरत को बिस्तर तक ले जा सके, यह उन्हें मंजूर नहीं"[12] परन्तु सही मायने में मजहब कुछ अलग से नहीं कहता अदीब और सलमा तय करता है कि हम लोग मजहब बदल लेते हैं वह कहती है-

"-आप अब मुसलमान बन जाइए!

-बन गया !

-और मैं हिन्दू बन जाती हूँ!

-बन जाओ!

और अदीब मुसलमान बन गया, सलमा हिन्दू!

-मैं तुम्हारा हाथ पकडूँ? अदीब ने कहा।

-पकड़िए !

-हाँ, तो अब कैसा लगा ? एक मुसलमान के हाथ में हाथ देते हुए ? अदीब ने पूछा।

-इसमें तो कोई मजहब आड़े नहीं आया। यह तो उसी तरह मुझे कंपाता है, जब आप हिन्दू थे! और न मेरा हिन्दू होना आड़े आता है...मैं भी उसी तरह लाजवंती की तरह आपकी छुअन से पंखुड़ियाँ बंद कर लेती हूँ ...सलमा ने उत्तर दिया

-और अब ?

-मेरे होठ उसी तरह भीगते और प्यासे हो जाते हैं जैसे पहले थे। यह प्यास तो मज़हब बदलने से बदलती नहीं, बुझती नहीं। सलमा ने भारी साँसों के साथ कहा।

-शायद यह गलत तरीका हो...आओ, हम दोनों मुसलमान हो जाते हैं! या दोनों ही हिन्दू हो जाते हैं! अदीब ने उसे बाँहों में कसते हुए कहा।

-अब ! अब भी आपकी बाहों में वही कशिश और ताक़त है...

-और अब ...

-अब भी आपकी हथेलियाँ और उँगलियाँ वही तलाश रही हैं जो हमेशा तलाशती थीं ! और उन्हीं नखलिस्तानी जगहों में पनाह ले रही हैं जो लम्बे रेगिस्तानी सफ़र के बाद जिन्दगी में मिलती हैं।"[13] वास्तव में मजहब इंसान को रास्ता दिखा सकता है, उसे गुमराह नहीं कर सकता। मजहब इंसानों को प्रेम सिखाता है, उसे उससे वंचित नहीं कर सकता। कमलेश्वर ने उक्त वार्तालाप से यह सिद्ध किया है कि मजहब इंसानों के बीच दीवार नहीं बन सकती उसे अलग एहसास नहीं दिला सकता प्रेम से बढ़कर मज़हब नहीं हो सकता। मज़हब को अपने फायदे के लिए ही ज्यादा इस्तेमाल किया जाता है। और इसका नुकसान आम लोगों को होता है खासकर मुस्लिम औरतों को मज़हब का वास्ता देकर उन पर घोर अत्याचार किया जात है- "पहले तो आप औरत को अपने कुनबे में घेर कर रखना चाहते हैं, फिर खानदान का वास्ता देते हैं, और जब सब कुछ भी कारगर नहीं होता तो मज़हब का वास्ता देते हैं!"[14] स्त्रियों पर बंदिशें हिन्दू और मुसलमान दोनों मजहबों में लगायी जाती है।

कुल मिलाकर इसमें भारत और विश्व के इतिहास को टटोलकर देखने का प्रयास किया गया है। मज़हब के आधार पर देश का बँटवारा कितना गलत साबित होता है। साथ ही युद्ध की बर्बरता और मानव जाति का ह्रास आदि कैसे होता है उसका यथार्थपरक और मार्मिक चित्रण हुआ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिंदी उपन्यास के विकास में विशेषकर आरंभिक दौर में मुस्लिम अस्मिता गौण दिखाई पड़ती है। एक उपन्यास 'निःसहाय हिन्दू' को छोड़कर प्रेमचंद पूर्व युग में

मुस्लिम समाज को केंद्र में रखकर कोई भी उपन्यास नहीं लिखा गया है जिसमें मुस्लिम समाज का अंकन सौहार्दपूर्ण एवं सकारात्मक दृष्टि से हुआ हो। उसके बाद के युग में धीरे-धीरे मुस्लिम पात्रों एवं कथाओं का आगमन हुआ। परन्तु पूर्ण रूप से आजादी के बाद खास तौर से साठोत्तरी उपन्यास में मुस्लिम समाज का अंकन सम्पूर्ण रूप में दिखाई पड़ता है।

संदर्भ सूची:

1. मंजूर एहतेशाम, सूखा बरगद, पृष्ठ-56
2. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-356
3. अब्दुल बिस्मिल्लाह, झीनी झीनी बिनी चदरिया, पृष्ठ- 48
4. वही, पृष्ठ-199
5. विभूति नारायण राय, शहर में कर्फ्यू, पृष्ठ-09
6. वही, पृष्ठ-11
7. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ-381
8. कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, पृष्ठ-187
9. वही, पृष्ठ-200
10. वही, पृष्ठ-171
11. वही, पृष्ठ-124
12. वही, पृष्ठ-127
13. वही, पृष्ठ-131
14. वही, पृष्ठ-120